कि ता ब म ह ल, इ ला हा बा द

निर्यातन

भगवती प्रसाद वाजपेयी

किताब महल, इलाहाबाद

१

गम्भीरता उच्च चरित्र का एक ऐसा लक्षण है, जो छिपाए नहीं छिपता, यद्यपि रहता वह सदा शान्त, मूक और प्रच्छन्न है।

मल्लिका बड़े लाड़-प्यार में पाली गई थी। जब वह दस वर्ष की थी, और उसे संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाया था, तभी उसके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था। उसके पिता तीस सहस्र रुपये की जायदाद छोड़कर स्वर्गवासी हुए थे। पहले पहल जब उसे अपना और अपने जगत का ज्ञान हुआ, तब उसे किसी प्रकार का कष्ट न था। वह बालिका-विद्यालय में पढ़ती थी और अपनी कक्षा में सबसे अधिक गंभीर समझी जाती थी।

मल्लिका के एक भाई था रमाशरण। अपने सामने .एक बड़ा उद्देश्य...एक महान् आदर्श रखने वाले व्यक्ति सदा कर्मठ होते हैं। रमाशरण इसका अपवाद था। रसना-तृप्ति के क्षेत्र में वह बड़ा यशस्वी था और स्वभाव का भी उदार और सुशील था। एक बात और थी; इन गुणों के साथ-साथ वह अपव्ययी और अदूरदर्शी भी था। परिश्रम करके या किसी काम-काज में लगकर जीवन-निर्वाह करना तो वह जानता ही न था। तिस पर उसकी महत्वाकांक्षाएँ कम बलवती न थीं। वह रईसों की तरह दिन-रात आमोद-प्रमोद में लीन रहता था। यदि कभी उसे सार्वजनिक सेवा करने का अवसर मिलता, तो उसमें भी वह अपनी उदारता के बल पर मान और प्रतिष्ठा में सबसे आगे रहने की चेष्टा करता।

रमाशरण का एक साथी था राधाकान्त। उससे उसकी खूब पटती थी। वह एक मिल-ओनर मारवाड़ी फर्म में प्रथम महायुद्ध के बाद, आज की अपेक्षा बहुत सस्ते जमाने में सौ रुपये मासिक पर नौकर था। इस फर्म की दूकानें बम्बई और कलकत्ते में भी थीं। राधाकान्त इन सभी जगहों का हिसाब चेक करने के काम पर नियत था। सायं-प्रातः, जब भी उसे अवकाश मिलता, वह रमाशरण के यहाँ ही डटा रहता था। मिठाइयों के दोनों और रंगीन शरबतों से गिलास खाली होते समय वह कभी चूकता न था। जब रमाशरण ताँगे पर बैठ कर बाहर सैर-सपाटे को बाहर जाते, तो राधाकान्त अवश्य साथ रहता। धीरे-धीरे वह रमाशरण का घनिष्ठ मित्र बन गया था।

राधाकान्त एक शौकीन युवक था। उसकी आँखें बड़ी चंचल थीं। मोटे कत्थई रंग के फ्रेम का चश्मा उसकी नाक पर बहुत फिट बैठता और उसकी मुखश्री को बहुत शोभन बना देता था। पान की लालिमा से उसके होठों की अरुणिमा सदा सजग रहा करती थी। उसके केश घुँघराले थे और स्वच्छता तो उसके जीवन का अङ्ग बन गयी थी। वह अपने वस्त्रों में किसी प्रकार का दाग या धब्बा तो कभी सहन ही न कर सकता था। उसका रुमाल नित्य धुलता और इत्र से तो वह सदा ही सुवासित रहता था। वह ताश खेलने में बड़ा निपुण था। प्रायः लोग उसे भागीदार बनाने में गौरव का अनुभव करते थे।

रमाशरण भी नये युग के व्यक्ति थे। हिन्दू-समाज की कूप-मंडूकता और उसकी परम्परागत रीति-नीति के वे कट्टर विरोधी थे। उनके घर में परदा न था। अपने साथ के बैठने-उठने वाले व्यक्तियों का भी उनके घर में प्रवेश-निषेध न था और राधाकान्त तो घनिष्ठता में इस सीमा तक आगे बढ़ता जा रहा था कि यदाकदा विश्वबन्धुत्व का व्यावहारिक रूप भी वहाँ कभी-कभी प्रदर्शित हो जाया करता था।

मल्लिका उन दिनों पन्द्रह वर्ष की हो गई थी। अपने बड़े भाई

रमाशरण के साथ बैठने-उठने के कारण शनैः-शनैः वह भी राधाकान्त से परिचित होती जाती थी। वह प्रकृति की बड़ी लज्जाशीला थी। पुरुषों से मिलने में वह संकोच करती थी, इसीलिए जब कभी रमाशरण की बैठक में राधाकान्त उपस्थित रहते, तो उसमें प्रवेश करते हुए वह भीता हरिणी की भाँति सकुच जाती, उसका ज्योतिर्मय दृष्टिक्षेप केवल भाई तक सीमित रहता था। यदि कभी ऐसा संयोग आ जाता कि रमाशरण घर में न उपस्थित रहते, तो वह नौकर के द्वारा कहला देती—'वे घर में नहीं हैं।'

अधिक निकटता आचार-धर्म की दृढ़ता का गुप्त विरोध है। और जब वह भिन्न यौन हो, तब तो घृताहुति ही बन जाती है। अतएव अधिक काल तक मल्लिका भी अपनी नीति पर स्थिर न रह सकी। अनेक बार ऐसा हुआ कि जब रमाशरण घर में उपस्थित न थे, तभी राधा बाबू आये और उन्हें न पाकर वापस चले गये। पुनः जब वे मिले तो उन्होंने रमाशरण से कह दिया—'वाह! मैं तो दो बार तुम्हारे यहाँ गया, पर तुमको न पाकर लौट आया।' समय पर मिलने में इस प्रकार कुछ असुविधा उपस्थित हुई, तो तै यह हुआ कि जब कभी राधा बाबू आवें, तो उनके लिए बैठका खोल दिया जाय।

अब राधाबाबू के आने पर रमाशरण का बैठका खुलने लगा। जब कभी वह आता, मल्लिका उसका स्वर पहचान कर बैठका खोलने के लिए नौकर को भेज देती। परन्तु जब कभी नौकर भी किसी कार्यवश बाजार या अन्य कहीं गया हुआ रहता, तो स्वयं उसे आकर बड़े सङ्कोच के साथ यह दुष्कर कार्य करना पड़ता। जब कभी ऐसा होता, तो झट से बैठक खोलकर वह सर्र से अन्दर चली जाती। इस अप्रीतिकर कार्य में वह इतनी शीघ्रता दिखलाती कि कभी-कभी तो उसकी साड़ी का छोर कुर्सियों के फैले हुए पायों अथवा बन्द होते हुए द्वार के किवाड़ों से उलझते-दबते बचता था।

निकटता उन संयोगों की पृष्ठ-भूमि का नाम है जो जीवन की धूप-छाँह को दृश्यमान बना देते हैं। एक दिन, जब रमाशरण और राधाकांत बैठक में बैठे गप लड़ा रहे थे, यकायक नौकर से कहा गया, 'जाओ, मल्लिका से कह दो, चाय तैयार करके भिजवा दे।'

मल्लिका कैसी विधिवत् चाय बनाती है, रमाशरण का उद्देश्य इस विषय में उसकी दक्षता प्रदर्शित करना ही रहा होगा। कदाचित् इसी कारण उन्होंने बड़ी हौस से मल्लिका को ऐसी आज्ञा दी थी। किन्तु अपने बड़े भैया की यह बात उसे अच्छी नहीं लगी। चाय तैयार कर देना बुरा नहीं है, पर वहाँ बैठक में जाकर सम्बन्ध-हीन व्यक्ति को उसका पान कराना वह अपने लिए असङ्गत समझती थी। इसीलिए चाय तैयार करने के कार्य में रत रहते हुए भी वह यही सोचती रही कि कहीं ऐसा न हो कि भैया मुझे इन आतिथ्य-कार्य को सम्पादन करने के लिए वहीं आ जाने की आज्ञा भी दे बैठें।

कभी-कभी हम अदृष्ट के साथ खेला करते हैं। हम जानते हैं कि उसकी मायाविनी प्रकृति है, हमें पग-पग पर यह भासित होता रहता है कि अब आगे यह होने जा रहा है, हमें यह भी प्रतीत हुआ करता है कि इन सब बातों का प्रतिफल, इन योजनाओं का उपसंहार, इस आन्दोलन की इति जहाँ होती है, वहाँ हमारा स्थान, हमारी स्थिति, हमारी रूप-रेखा क्या होगी? परन्तु इन सब बातों का ज्ञान और वस्तुस्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी हम अदृष्ट से अपना पृथक्करण कर नहीं पाते। उसकी माया के नागपाश में उत्तरोत्तर बँधते ही चले जाते हैं।

मल्लिका भी अदृष्ट के साथ खेल रही थी। जो बातें उसके मन में आया करती थीं, जिनसे वह सदा सशंकित रहा करती थी, धीरे-धीरे वह उन्हीं में फँसती जा रही थी; जिस अप्रीतिकर अवसर से सदा बचने का उपक्रम करती थी, वही उसके पीछे पड़कर अनिवार्य बन जाता था।

आज भी जो आशंका उसके मन में उपस्थित हुई अन्त में घटित होकर ही रही।

वह दिन बड़ा सुहावना था। प्रातःकाल वर्षा हो चुकी थी। मलय समीर की मादक लहरें वातायन से आती हुई आँखों के पलकों पर बैठ जाती थीं, लताओं की पत्तियाँ मत्त हो-होकर एक मर्मर रागिणी सी छेड़ती हुई प्रतीत होती थीं। उनकी धुली कोपलों की सघन हरीतिमा शुष्क जीवन को हरा-भरा बनाने के लिए स्वयमेव मुस्करा-मुस्करा कर वार्तालाप करने लगती थी।

बैठक खोलकर मल्लिका अभी लौट रही थी कि राधाकान्त बोल उठे, 'जरा ठहरो, कुछ कहना है मुझे।'

झन झन झन झन। मल्लिका एकदम से सिटपिटा गई और ठिठुक कर वहीं खड़ी हो गई।

तब आह्वान को करुणा में लपेट उपालम्भ के स्वर में राधा बाबू बोले—'देखता हूँ, तुम मुझसे कुछ अन्यमनस्क-सी रहती हो। इस घर में आते-जाते, बैठते-उठते, मुझे कितने दिन हो गये, पर आज तक अपनी ओर से तुमने मुझसे कभी एक बात तक न की। मल्लिका, मेरे भी हृदय है। मनोभावों को मैं भी समझता हूँ।'

संयोग बड़ा ही निर्मम परीक्षक होता है। मल्लिका राधाकान्त के इस कथन पर कुछ न कह सकी। वह मूर्तिवत् खड़ी-खड़ी सोचने लगी—'कितना अच्छा होता, यदि वह राधाकान्त की बात अनसुनी करके झट चली ही गई होती।'

एक क्षण तक किसी ने कुछ नहीं कहा। तदन्तर मल्लिका ने झट से कह दिया—'भैया आते होंगे', और उत्तर का भी अवसर न देकर वह अन्दर चली गई।

सचमुच रमाशरण आ ही रहे थे। उसके हाथ में एक पत्रिका थी। कमरे में प्रवेश करते हुए बोले—'कितनी देर से बैठे हो?'

'दस मिनट हुए होंगे।'

'अच्छा तो आज का कार्य-क्रम?'

'कार्य-क्रम की बात पीछे करूँगा; पहले जलपान के लिए कुछ मँगाओ। बड़ी भूख लगी है।'

'अभी लो,' कहकर रमाशरण भीतर चले गये। बोले—'मल्लिका... मल्लिका। कहाँ गई?'

मल्लिका भीतर थी। रमाशरण का स्वर सुनकर तुरन्त बाहर आकर बोली—'क्या है भैया?'

रमाशरण—'चाय के साथ के लिये जरा-सा हलुआ तैयार कर लेना और थोड़ी पकौड़ी। मगर जल्दी।'

आज्ञा देकर रमाशरण फिर बैठक में आ पहुँचे और बोले—'अभी तैयार हुआ जाता है।'

थोड़ी देर में सड़क की खिड़की के खुले द्वार पर एक कपोती आ बैठी और चमकती ग्रीवा हिलाकर अपने दायें-बायें देखने लगी। तभी कपोती की चोंच में एक दाना आ गया और वह पंख उठाकर तुरन्त उड़ गई।

मल्लिका ने दो तश्तरियाँ लगाकर भेज दीं।

दो-तीन बार चम्मच का प्रयोग कर लेने के अनन्तर राधाकान्त ने कहा—'देखता हूँ, मल्लिका पढ़ने-लिखने में तो तेज है ही; गृहकार्य में भी पर्याप्त दक्ष है। कैसा स्वादिष्ट हलुआ बनाया है, और कितनी जल्दी!'

मल्लिका बैठक के द्वार पर खड़ी थी। उसने अपना सिर कुछ नीचे झुका लिया। रमाशरण ने प्रसन्नता से मुसकराते हुए कह दिया, 'विद्यालय की शिक्षा-दीक्षा के अतिरिक्त मैंने सदा से ही गृह-शिक्षा पर विशेष ध्यान रक्खा है। ईश्वर की दया से अब वह गृहिणी बनने योग्य हो रही है। इस वर्ष इसका विवाह कर देना आवश्यक हो गया है।"

विवाह की चर्चा छिड़ने पर मल्लिका की मुद्रा और भी गम्भीर हो गई। और जब राधाकान्त ने चश्में के कोने से उसे देखने की चेष्टा की, तब वह झट से अन्दर चली गयी। एक अँग्रेजी लोकोक्ति है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। इसका आन्तरिक अभिप्राय यह भी है कि प्रत्येक नीति अथवा सिद्धान्त प्रकारान्तर से स्वार्थ-सिद्धि के पोषक होते हैं।

रमाशरण की बात समाप्त होते ही राधाकान्त बोले, 'परन्तु जब तक योग्य वर नहीं मिलेगा, तब तक विवाह कैसे होगा? इतनी शिक्षा-दीक्षा हो जाने पर इस बात का भी तो ख्याल रखना पड़ेगा कि वर ऐसा हो, जो इसके लिए सब प्रकार से योग्य हो। विवाह जीवन की एक नाव है। जैसे नाव से हम नदी के इस पार से उस पार जाते हैं, वैसे ही विवाह से हम जीवन की यात्रा तै करते हैं। मेरी सम्मति में विवाह ऐसी चीज नहीं है, जिसमें जल्दीबाजी की जाय। ऐसे महत्वपूर्ण कार्य को बहुत सोच-समझकर करना चाहिए।'

रमाशरण ने चाय के प्याले को सॉसर पर रखते हुए उत्तर दिया, 'मैं आपके विचारों से सहमत हूँ। यदि ऐसी बात न होती, तो मल्लिका का विवाह अब तक कभी का हो गया होता। अब मैं इसी निमित्त घूमूँगा, इसी में सारा समय लगाऊँगा। कोई कारण नहीं कि योग्य वर न मिले।'

अन्दर मल्लिका पान लगाती हुई नौकर से कह रही थी—'तश्तरी खाली हो जाते ही उठा ले आना।'

रुमाल निकालने के अभिप्राय से राधाकान्त पैंट के जेब में हाथ डालते हुए कह रहे थे, 'फिर भी इस कार्य में आपको जीतोड़ परिश्रम करना पड़ेगा।'

दीनू पीछे हाथ किये खड़ा हुआ था। रमाशरण बोले, 'मल्लिका से चार बीड़े पान लगवा कर दे जाओ।'

पान दीनू उसी समय अन्दर से ले आया।

अब मुँह पोंछते हुए राधाकान्त बोले, 'मैंने सुना है, मल्लिका कविता भी सुन्दर लिखती है। बालिका-विद्यालय में जो कवयित्री-प्रतियोगिता हुई थी, मल्लिका उसमें फर्स्ट आई थी······अरे दीनू, जरा सुरती ले आना।'

रमाशरण प्रसन्नता से बोले, 'हाँ, उसने 'रजनी' पर एक सुन्दर कविता लिखी है।'

राधाकान्त बोले, 'मेरे देखने में नहीं आयी। जरा उसकी प्रतिलिपि तो मँगवाइए।'

रमाशरण—'प्रतिलिपि क्या कीजियेगा देखकर? मल्लिका से सुन ही न लीजिए।'

राधाकान्त, तो यह चाहता ही था। बोला, 'अच्छा तो सुनवाइये। मातृ-मंदिर में देवांगनाओं की इस अर्चना को मैं भारत के उज्ज्वल भविष्य का उषाकाल समझता हूँ।'

दीनू राधा बाबू को सुरती दे रहा था। तभी रमाशरण ने कह दिया, 'मल्लिका को भेजना जरा।'

दीनू अन्दर चला गया। टेबिल पर एक अखबार पड़ा था। पवन-झकोरे से वह नीचे जा गिरा। राधा बाबू ने सिगरेट का पैकेट निकाला। मल्लिका इसी समय आ गयी। रमाशरण बोले, 'मल्लिका, वह जो 'रजनी' पर तूने एक कविता लिखी थी, जरा सुना तो दे। राधा बाबू उसे सुनने को बड़े उत्सुक हैं।'

मल्लिका संकोच के मारे पृथ्वी में धँस-सी गई। परन्तु फिर तुरन्त सम्हल कर नमित दृष्टि से बोली, 'उस कविता को लिखे हुए बहुत दिन हो गये। अब तो वह मुझे याद भी नहीं रही।'

राधाकान्त के मन में आ रहा था······गुलाब के दल भूमिसात हो रहे हैं।

रमाशरण—'याद कर ले जरा देर में, या अपने कागज-पत्रों में देख, कहीं-न-कहीं तेरी कापी या डायरी में नोट होगी। इनको सुनाने में तुझे संकोच न होना चाहिए। अपने मित्र और तेरे भाई के समान हैं। कुछ तो याद होगी, जितनी याद हो, उतनी ही सुना दे।'

मुखरित संकोच कभी-कभी बड़ा काम कर जाता है। मल्लिका दृढ़ता के साथ बोली, 'इस समय तो वह बिलकुल याद नहीं है। ढूँढ़ देखूँगी; यदि मिल गयी तो फिर कभी सुना दूँगी।'

रमाशरण—'अच्छा ठीक है। फिर किसी दिन सुना देना।'

मल्लिका की ओर देखते हुए राधाकान्त ने पूछा, 'तो फिर कब तक आशा करूँ?'

मल्लिका के स्थान पर रमाशरण ने कह दिया, 'यही दो-एक दिन बाद।'

राधाकान्त ने अनुभव किया, मल्लिका कुछ लजा-सी गई है। अतः वे स्वयं बोल उठे, 'अब यह बात इसी पर छोड़ दीजिये। जब इसकी इच्छा हो, तभी सुना दे।'

मल्लिका को खोये प्राण से मिले, वह चुपचाप बैठक से अन्दर लौट आई।

३

साहसी व्यक्ति अवसर की प्रतीक्षा नहीं करते। कौशल से वे उसे शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं।

एक दिन रमाशरण की अनुपस्थिति में राधाकान्त को मल्लिका से बोलने का अवसर मिल ही गया। अतएव आप बड़ी आत्मीयता से बोले, 'मल्लिका, तुमने वह कविता नहीं सुनाई। मैंने कितना कहा, पर तुमने कुछ भी ख्याल नहीं किया।'

ठिठकती हुई मल्लिका बोली, 'मुझे याद नहीं है। इसके सिवा मुझे लाज लगती है।'

'इसमें लज्जा की बात ही क्या है?' राधाकान्त ने उत्तर दिया।

इस पर मल्लिका कुछ बोली नहीं। राधाकान्त का तीर बिलकुल ठीक स्थल पर जा लगा था। मल्लिका भी सोचने लगी, 'कितने धृष्ट हैं ये! इस तरह की प्राणान्तक बातों को चट से कह डालते हैं। जैसे उनके भीतर मन-प्रान्त में कहीं कुछ है ही नहीं। जो बातें वर्षों में हृदय के भीतर स्थान कर पाती हैं, ये लोग उन्हीं बातों को कितनी जल्दी कह डालते हैं। कैसी इनकी सभ्यता है!' और अन्त में तुरन्त सजग होकर बोली—'जाती हूँ, भाभी बुला रही है।' और तुरन्त अन्दर चली गई।

'अकेली मत जैयो राधे जमना के तीर'—सड़क पर कोई गाता हुआ चला जा रहा था।

राधाकान्त सोच रहे थे—कितनी मीठी भाषा है इसकी! जब बोलती है, तो शब्द-शब्द से प्राण-प्रद जीवन-धारा-सी प्रवाहित होने लगती है। ऐसा जी चाहता है कि वह बोलती ही रहे, मैं सुनता ही रहूँ! इतना शील, इतना सौजन्य इसके रोम-रोम में समाया हुआ है कि आँखों से ओझल हो जाने पर भी, कल्पना-दृष्टि में सदा समाई हुई जान पड़ती है!

प्रायः देखने में आता है कि जब मनुष्य कोई विशेष प्रयत्न करता है, तब उसमें विघ्न अवश्य उपस्थित होते हैं।

रमाशरण अन्दर भोजन कर रहे थे। थोड़ी देर में आकर राधाकान्त को पान देते हुए बोले—'कहो, आज का कार्य-क्रम?'

राधाकान्त—'आज मुझे आफिस के काम से कलकत्ते जाना है। लगभग पन्द्रह दिन लगेंगे। इस दासता से तो मैं तंग आ गया हूँ। इस समय कहीं बाहर जाने की मेरी इच्छा कतई नहीं है।'

रमाशरण—'जीविका का प्रश्न है। इसलिये जाना तो पड़ेगा ही।'

राधाकान्त—'परन्तु मैं स्वतन्त्र जीविका को अधिक महत्व देता हूँ। सौ रुपये मासिक वहाँ पाता हूँ। यदि मैं स्वतन्त्र होता और उस दशा में मेरी आय पचहत्तर रुपये मासिक भी होती, तो इस नौकरी से उस स्वतन्त्र जीविका को मैं कहीं अधिक पसन्द करता।

रमाशरण की सलाह प्रायः उचित होती थी। बोले—'परन्तु इसके लिए अन्य उपाय ही क्या है ? यह समस्त सृष्टि ही बन्धनमयी है। एक न एक अभाव जीवन से लगा ही रहता है। जीवन की सभी आवश्यकताएँ कभी पूर्ण होती हैं ? जो लोग स्वतन्त्र होते हैं और सार्वजनिक सेवा में सदा तत्पर रहते हैं, वे भी अपने निजी स्वार्थों की ओर से मुँह मोड़कर नहीं रह पाते। जैसे सदा अपना स्वार्थ ही देखना, समाज, जाति और देश की समस्याओं पर दृष्टिपात न करना निन्द्य है, वैसे ही सदा सार्वजनिक सेवा में ही तत्पर रहकर, अपने आपको मिटा कर सेवा योग्य बने रहने में त्रुटि डालना भी निन्द्य है। हमें अपने आपको सदा संतुलित रखना पड़ता है। हमारे भीतर जो विचार-शक्ति काम करती रहती है, हम सदा उससे लड़ते-झगड़ते रहते हैं। जब हम अपने अस्तित्व-संरक्षण की ओर देखते हैं, तब हमें अपने स्वार्थ-साधन की ओर प्रवृत्त होना पड़ता है, परन्तु जब हमारे हृदय में कर्तव्य के भाव जाग्रत होते हैं, तब हमको सार्वजनिक सेवा में लिप्त हो जाना पड़ता है। कभी हम बीच में रहते हैं, कभी जरा से इधर या उधर। कभी अति-शयोक्ति कर बैठते हैं, तो गर्त में जा गिरते हैं। इसलिये यदि आपको काम आ पड़ा है तो आप सहर्ष कलकत्ता जाइये।'

सिगरेट का टुकड़ा बैठक के बाहर फेंकते हुए राधाकान्त बोले—'सिद्धान्त रूप से मैं आपकी बात मानता हूँ, पर मैं अपने मन की बात आपसे क्या बताऊँ। अनिच्छापूर्वक कहीं भी जाने में मुझे बड़ा कष्ट होता है।'

आपके मन की बात यदि कहीं रमा को ज्ञात होती, तो इस समय

आपका चेहरा रामलीला के अवसरों पर प्रयोग में आने वाले मिट्टी या कागज के बने चेहरों में बानर जैसा होता !

साढ़े चार बज चुके थे। बालिका-विद्यालय की सुन्दर बस रमाशरण के मकान के समक्ष जा खड़ी हुई। मल्लिका उसके भीतर से निकल कर उसके अन्दर जाने लगी। राधाकान्त ने उधर देखते हुए अनुभव किया—उसकी सघन घनघटा-सी कुन्तल-राशि कैसी लुभावनी है, उसकी राज-हंसिनी सी गतिविधि हृदय-सरोवर में तरंगराशि-सी जान पड़ती है। उसकी मुख-कान्ति की चन्द्रछटा अमृत-दान करने लगती है।

बस चली गई।

राधाकान्त एक निःश्वास को दबाते-दबाते कुरसी से उठते हुए बोले—'अब मैं भी चलता हूँ।'

४

कलकत्ता पहुँचने पर राधाकान्त ने अनुभव किया, जैसे उसके जीवन का संगीत कहीं दूर छूट गया है। रात को दस बजने पर जब वे अपने डेरे पर लौटते, तो शिथिल गात पलँग पर जा लेटते। घंटे-डेढ़-घंटे तक वह उसी प्रकार चुपचाप पड़े रहते। उनकी भूख-प्यास जाने कहाँ चली गई थी। न तो किसी दिन वे कहीं थियेटर या सिनेमा देखने में अपने को भूल जाने में सफल होते, न कहीं किसी पार्क में बैठकर अपने आपको देखने का अवसर पाते। कभी उनके सिर में दर्द हुआ करता, कभी उसे शौच की शिकायत रहती। वे पन्द्रह दिन के लिये आये थे, पर चार-छः दिनों के भीतर ही अस्वस्थ हो गये। रात में नींद तो ठीक आती न थी। स्वप्न देखते-देखते वे चौंक पड़ते और एकाएक चिल्ला उठते—'कौन ? मल्लिका !' दूकान में, गोदाम में, बही-खाते उलटते और पंखे की ठंडी-ठंडी हवा खाते हुए उन्हें कभी-कभी नींद आ जाती। उनकी

आँखें झपक जातीं। बार-बार वे आँखें धोते और चेतन बन जाने का उपक्रम करते। फिर भी जब वश न चलता तो प्रायः वे सेठजी से यह कहकर अपने डेरे पर चले आते कि मेरी तबियत आज ठीक नहीं है। पर डेरे पर आकर भी उन्हें चैन न मिलती। बिस्तर पर पड़े-पड़े वे करवटें बदलते हुए सोचने लगते—मैं भी कितना मूर्ख हूँ। व्यर्थ ही इतना परेशान होता हूँ। तुरन्त वे अपने कमरे में रक्खी हुई बोतल का कार्क खोलकर दो पेग चढ़ा जाते। बात की बात में उनकी मुद्रा खिल उठती। मकान में जो लोग उनके पड़ोसी थे और संयोग से उस समय बेकार रहते थे, वे उनके साथ बैठकर ताश खेलने लगते, जब भूख लगती, तो बाजार से मिठाई-पूरी मँगाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लेते। कभी-कभी अपने साथियों को भी उसका भाग आतिथ्य रूप में भेंट कर देते। दिन भर में चालीस-पचास पान खा लेना उनके लिए अब एक साधारण बात हो गई।

आठवें दिन जब राधाकान्त एक नाटक देखने गये, तो साथ में टुन्नू बाबू भी गये, जिनके साथ उनका दिन भर गपशप में व्यतीत हुआ करता था। रंगशाला के भीतर नर्तकियों का नृत्य देखकर टुन्नू बाबू बीच-बीच में अपनी सम्मति प्रकट करने लगते थे। यह ललिता वास्तव में सुन्दरी है। इसकी छबि कितनी लुभावनी है।...और वह रमा—उसकी कजरारी आँखों की धार कैसी प्रखर है। बाबू देखो, ये दोनों ही बस...

दो-चार मिनट तक तो राधा बाबू सुनते रहे, अन्त में जब असह्य हो उठा तो यकायक—'चुप रहिये,' राधा बाबू जोर से बोल उठे। उनके स्वर में आज आतंक की स्पष्ट झलक थी।

'अच्छा-अच्छा, समझ लिया बाबू,' कहते हुए टुन्नू बाबू चुप हो गये। परन्तु थोड़ी देर बाद एक नर्तकी ने गाया—'तोरे मन में बसूँगी हो साजना।' टुन्नू बाबू से फिर नहीं रहा गया। बोले—'वाह राजा।

बस, यही तो हम चाहते हैं।' तब बिना कुछ कहे राधा बाबू झट उठ कर बाहर चले आये।

दूसरे दिन मिलने पर टुन्नू बाबू बोले—'आपको हो क्या गया है राधा बाबू? कल आप बेकार ही इतने बिगड़ पड़े कि हम लोगों को छोड़कर चले आये। नाटक इतना मजेदार था कि उसे पूरा देखे बिना हम लोग आ न सके।'

इस पर राधा बाबू सिर उठाकर अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बोले—'आप को और कुछ कहना है?'

टुन्नू बाबू उसकी भाव-भंगिमा पर कुछ आतङ्कित हो उठे। वे एकदम से सिटपिटा गये और बोले—'और तो कुछ...।'

टुन्नू बाबू अभी इतना ही कह पाये थे कि राधा बाबू के मुँह से निकल गया—'तो आप जा सकते हैं।'

पहले टुन्नू बाबू ने सोचा कि वास्तव में चला जाऊँ पर राधा बाबू की ओर उनको और भी अधिक आश्चर्य हुआ। पास रखी कुरसी ग्रहण करते हुए वे फिर बोल उठे—'आप बोलते क्यों नहीं हैं। क्या आप की तबियत कुछ...?' और इतना कहते-कहते उन्होंने उनका हाथ जो थाम लिया तो सहसा उनके मुँह से निकल पड़ा—'अरे! आपको तो ज्वर है।'

५

मधुर स्मृतियों का आलिंगन मानव प्रकृति का एक गुण है। राधाकान्त तन से अस्वस्थ रहने पर भी मन से स्वस्थ और प्रसन्न थे। एक प्रकार से वे सन्तोष का अनुभव करने लगे थे। वे सोचते थे—'यही तो यथार्थ मनुष्यत्व है। हम जिसकी प्राप्ति की कामना करें उसे पा न सकें, तो फिर क्या जरूरत है उस असफल जीवन की! जैसे निष्प्राण, निष्प्रभ शरीर

दुर्गन्धि ही फैलाने का कारण होता है। समाज उस निर्जीव शव को भस्मसात् करना ही अपना कर्तव्य मानता है, विश्व के इस सीमाहीन प्रांगण में मनुष्य के असफल जीवन की भी यही गति है।'

'नहीं राधाकान्त, तुम इतने पतित नहीं हो सकते, नहीं हो सकते।' फिर वे अपने आपसे बातें करने लगते थे—उसे अपने आप पर आश्चर्य हो रहा था। वह ऐसे लोगों के साथ नाटक देखने गया ही क्यों, जो चरित्रहीन और आवारा थे!

उनकी बैठक के पीछे ही परम धार्मिक गृहस्वामी का पूजागृह था। इस समय उसमें घंटी बज रही थी, जिससे यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक था कि वहाँ भगवान की आरती उतारी जा रही है। उसे प्रतीत हुआ, मानों आरती की ज्योति से उसके हाथ बुरी तरह झुलस जायँगे, फिर भी वह अपने हाथों को उठायेगा नहीं!

यह कौन है जो भीतर से उमड़-उमड़ कर कह रहा है कि तू भी तो आवारा है। यह कौन है जो मुझे अचानक अग्नि की ओर लपकते हुए स्पष्ट देख रहा है! लो, वह कह रहा है कि राधाकान्त विवेकशील बनने का पाखण्ड भले ही रचे, पर है वह पहले दरजे का लम्पट! वह विवाहित होकर भी विशिष्ट सौन्दर्य के आकर्षण से अपने आपको अक्षुण्ण नहीं रख पाता, वरन् अपने इस जघन्य कार्य में भी वह दार्शनिकता का पुट देता है! हाय। यही वह अग्नि है जो मानव-हृदय को नित्य जलाया करती है। राधाकान्त इस आग में नहीं जलेगा, कभी नहीं जलेगा। वह मर जायगा, परन्तु ऐसा जघन्य कार्य नहीं करेगा।'

मनुष्य के भीतर-बाहर का यही रूप है। हम नित्य कान पकड़ कर उठते-बैठते हैं कि अब से ऐसा काम नहीं करेंगे। हम नित्य परमपिता परमात्मा को अपने बीच में डालकर उनको अपने समक्ष उपस्थित बना कर, शपथ लेते हैं कि ऐसा काम हम फिर कभी नहीं करेंगे, परन्तु हम फिर भी उसी काम में पड़ते हैं, उसी गन्दे नाले के भीतर घुसते हैं और

लोलुपता और आचारहीनता से अपना शरीर, अपने परिधान और अपनी पवित्र आत्मा को कलुषित करते हैं।

आज राधाकान्त भी प्रतिज्ञा कर रहा है। पर कौन जानता है, उसकी प्रतिज्ञा का क्या रूप होगा ?

राधाकान्त बीमार है। उसे ज्वर आने लगा है। जब तक ज्वर चढ़ा रहता है, तब तक वह विचार-वल्लरियों के साथ अठखेलियाँ किया करता है। वह कभी देवता बनने का स्वप्न देखता है, कभी कवि और दार्शनिक हो जाता है और कभी-कभी कह उठता है—'उँह, इन बातों में रक्खा क्या है ?—तमाशे दुनियाँ के कम न होंगे। सितम यही है कि हम न होंगे।'

एक वैद्य राधाकान्त को प्रतिदिन सायं-प्रातः देखने आया करते हैं। नित्य वे उसकी तबियत का हाल पूछते हैं और अवस्था देखकर औषधि और उपचार बतला जाते हैं। कई दिन से वे बराबर देखते हैं कि राधाकान्त के स्वास्थ्य में किसी प्रकार का अनुकूल परिवर्तन हो नहीं रहा है।

रविवार का प्रातःकाल था। आफिसों के बाबुओं के घरों में रविवार का प्रातःकाल बड़े महत्व का माना जाता है। शनिवार की रात सुहावनी होती है। इसलिये कि निश्चिन्तता से घूमने और सैर करने का उनके लिए यही सुअवसर होता है। बाबू लोग सोचते हैं—चलो आज की रात तो चैन से कटेगी। कोई सिनेमा देखने जाता है, कोई संगीत-क्लब का आनन्द लूटता है। नारी-सौन्दर्य के क्रय-विक्रय की हाट भी इसी रात को जमकर लगती है और रविवार का प्रातःकाल इस मादक आनन्द राशि की लूट का उनींदा अवसान होता है।

उसी रविवार का प्रातःकाल था। राधाकान्त की तबियत इस समय कुछ स्वस्थ थी। डेरे पर कई व्यापारी ठहरे हुए थे। ये व्यापारी उस मकान में थोड़े दिनों के लिए आते हैं और माल का ऑर्डर देकर चले जाते हैं। इनका आना-जाना बना ही रहता है। टुन्नू बाबू इन्हीं में से हैं।

ये महाशय राधाबाबू का साथ बहुत निभा रहे हैं। बहुत साहस कर आज बोले—'कहिये राधा बाबू, कैसी तबियत है ?'

'आज तो कुछ अच्छी मालूम होती है,' राधा बाबू ने कहा ही था कि संयोग से उसी समय पं० रामजीवन वैद्य ने पदार्पण किया। राधाबाबू के निकट वे एक कुरसी पर बैठ गये। बोले—'आज तो तुम्हारी चेष्टा अच्छी मालूम होती है, ईश्वर की कृपा से।'

तरंगित राधाकान्त के मुँह से निकल गया—'ईश्वर की कृपा से आप मुझे बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं।'

वैद्य जी पुराने विचार के आदमी थे। उनकी समझ में न आया कि राधाकान्त के इस कथन का क्या अभिप्राय है ? अतएव आश्चर्य के साथ वे बोल उठे—'आपका मतलब मैं समझ नहीं पाया।'

तब गम्भीरता के साथ राधाकान्त ने उत्तर दिया—'जब आपका मरीज मृत्यु के मुँह का कौर बन जाता होगा, तब आप यह तो कहते न होंगे कि ईश्वर कृपा से मुझे इस मृत्यु पर बड़ा दुःख है। क्योंकि क्षमा कीजिये, होता तो सब कुछ ईश्वर की कृपा से ही है।

अब वैद्य जी हँस पड़े। बोले—'आप भी खूब हैं।' और इसके बाद सोंटा उठाकर चलने लगे।'

राधाकान्त ने तत्काल दो रुपये नजर करते हुए कह दिया—'ईश्वर की कृपा से अपनी यह दक्षिणा स्वीकार कीजिये और ईश्वर की कृपा से ऐसा कुछ आशीर्वाद दीजिये फिर इस तरफ कष्ट करने की आपको आवश्यकता न पड़े !'

वैद्य जी फुटपाथ पर भी यही सोचते जा रहे थे—'इस आदमी की बातचीत बड़ी विचित्र होती है। बुरी लगने पर भी वह अच्छी लगती है।'

६

मछुआ बाजार स्ट्रीट के तिरासी नंबर के मकान में राधा बाबू ठहरे हुए थे। यह मकान पाँच खण्ड का बना हुआ था। नीचे किशोरीलाल-रामगोपाल फर्म की सूती और रेशमी कपड़े की एक बड़ी दुकान थी। यह दुकान कलकत्ता नगर में अपनी बहुत बड़ी ख्याति रखती थी। कपड़ों के फ़ैंसी डिज़ाइन्स के लिये तो यह विशेष रूप से प्रसिद्ध थी। बीच के खण्ड के कमरों में देशी ढंग का हिसाब-किताब रखने वाले मुनीम लोगों के बैठने के स्थान गद्दीदार बने हुए थे। सामने शीशम की लकड़ी के पालिशदार चमकते हुए बक्स रखे रहते जिन पर लम्बी-लम्बी बहियाँ रखे हुए मुनीम लोग लिखा-पढ़ी करते। इनके गद्दीदार आसनों के पीछे, पीठ की ओर मसनद लगी रहतीं। दावातें पीतल की साफ, चमकदार। उनकी स्याही देशी। कलमें किलक की काली। या तो वे मुनीम लोगों के कानों पर जा बैठती हैं या बही-खातों पर चरचराती रहतीं हैं। ये सृष्टि करतीं, पालन-पोषण और वैभव-वृद्धि में लीन रहती या फिर विनाश करके ही साँस लेती हैं।

इन मुनीम लोगों पर राधाकान्त की बड़ी श्रद्धा है। वे उनको इस युग का साक्षात् देवता समझते हैं। कागज, कलम और दावात से इनकी बड़ी घनिष्ठता है। ये इनके जनम-मरण के साथी हैं। बारह बजे से लगाकर छै-सात बजे तक इधर, फिर आठ बजे से दस बजे रात तक उधर उनका उपयोग करते रहते हैं। उनके साथ मुनीम जी की खूब बनती है। राधाकान्त उन्हें देख-देखकर सोचा करता है कि उनका बनाव-सिंगार करने में भी वे बड़े पटु हैं। रक्षाबन्धन के दिन पीला सूती या रेशमी धागा

दावात के गले में बँध जाता है और दीपावली के बाद प्रतिपदा को उन्हें छत्तीस घण्टे का विश्राम दे दिया जाता है। कागज जो साफ-सुथरा और चिकना रहता है, मुनीम जी की कलम उस पर आसानी से फिसलती है। कभी-कभी उन्हें ऐसा जान पड़ता है, मानो कलम के साथ उनकी तबियत भी फिसल उठी हो। कागज की चिकनाहट और उसकी श्वेतता उनके लिए एक सजीव वस्तु है। वह पुकार-पुकार कर कहती है, मुझ पर लिखो, मेरी पीठ में कलम घिस कर उसे सुरसुराते रहो, उसमें गुदगुदी पैदा करते रहो, तो ये लक्ष्मी-वाहन सदा प्रसन्न रहेंगे!

कई दिनों के बाद आज जब राधाकान्त मल्लिका को पत्र लिखने बैठा तो कलम के सम्बन्ध में ही सोचने लगा। कलम ठीक तरह से काम देती रहे, तो फिर लेखक के लिए सारी दुनियाँ तीन कौड़ी की है। लेखक मानव जगत् के भीतर वास करनेवाली घनीभूत पीड़ा, आनन्द, त्याग और ममता के जिन भवनों का निर्माण करता रहा है वे सदा उसके समक्ष खड़े रहते हैं। काल के अनन्त घात-प्रतिघात सहते हुए भी राज-दुर्गों, और राज-प्रासादों के खँडहर, देव-मन्दिरों की भग्न-प्राचीरें नित्य ही असंख्य नर-नारी देखा करते हैं; पर कितने दर्शकों के मन में समुद्र-मंथन-सा हलकम्प उपस्थित होता है। परन्तु लेखक की अमृत निर्झरिणी से निकले हुए शब्द कहीं पढ़ने को मिल गये तो उन पाठकों का मानस अतीत-स्मृतियों की सकरुण भावनाओं से प्रकम्पित हो उठता महिमामयी हो तुम लेखनी रानी!

कलम से उतरकर राधाकान्त झट स्याही पर आ गया। स्याही की लीला भी कम अनोखी नहीं है। फीकी हुई, तो समझो लेखक की मौत आ गई। इच्छा होती है, लिखना बन्द करके चुपचाप धोती बगल में दबाकर गंगा-स्नान को चल दे। वहाँ चित्त को कुछ शान्ति तो मिलेगी, नहीं तो यह फीकी स्याही खुद रोयेगी और लेखक को भी रुलाएगी। लेखक के घर में अगर उसकी प्राणमयी जीवन-संगिनी ही मर जाय, तो

भी उसकी वेदना उसे उतनी नहीं सतायेगी, जितनी लिखने का ताव आने पर फीकी स्याही की मनहूस सूरत।

पहले उसने लिखा, प्यारी मल्लिका। फिर सोचने लगा कि यदि किसी के हाथ में पड़ गया, तो वह क्या सोचेगा। फिर लिखा, मल्लिका मेरी रागिणी। फिर मेरी वंशी, मेरी सपनों की रानी, मेरी कल्पना की साम्राज्ञी आदि नाना प्रकार के विशेषणों को लिख-लिख कर पत्र को आदि से अन्त तक ऐसा रँग दिया कि झट से गुल्ली बनाकर वहीं फेंक दिया और फिर नये ढंग से जो लिखने बैठा मालूम हुआ बारह बज गये। तब झट उठकर राधाकान्त मुनीमों के बीच बैठ कर हिसाब-किताब का निरीक्षण करने लगा।

इन मुनीमों में लाला दमड़ीमल कानोडिया प्रधान हैं। हिसाब-किताब देखते हुए राधाकान्त कभी-कभी इन्हीं कानोडिया महाशय की ओर देख लेते हैं। वे पिछले तीन वर्षों का खाता उलट रहे हैं। पन्ने उलटते-उलटते वे एक स्थान पर रुक गये। बोले—'मुनीम जी, ये पाँच हजार तिरासी रुपये जो आपके नाम से जमा हैं, ये किस तरह के हैं?'

पहले एकाएक अप्रतिभ होकर परन्तु फिर जरा-सी खीसें दिखाकर मुनीम जी बोले—'बाबूजी ये मेरे मुनाफे के हैं।'

रा०—'आप के मुनाफे के? खूब! पर यह तो हुआ सूत्र। अब राम जाने इसकी टीका भी कर दीजिये, अगर आपकी तबियत ठीक हो!' तब दाँत खोदते-खोदते हुए मुनीम जी बोले—'बात यह है कि मैं तो बस राम जाने सच्ची बात ही कहना जानता हूँ। झूठ बात जो कहूँ तो लल्ला की अम्मा की कसम, मेरा सत्यानास हो जाय! आप जो यहाँ पर यह हिसाब-किताब देखने को आये हो, सो आपसे झूठ बात कहके राम जाने मैं रह कैसे सकता हूँ। लाला किशोरीलाल के सामने की बात है। राम जाने फिर आप जानते ही हैं कि वे कैसे धर्मात्मा पुरुष थे। जो कह देते थे, राम जाने, कभी उससे टलते न थे। संवत् उन्नीस-सौ अट्टासी

की बात है राम जाने उस साल बहुत मुनाफा हुआ था। हिसाब जब तैयार हुआ तो लालाजी बोले—अगले साल से मुनीम जी आपका भी तीन आने का हिस्सा कर देंगे। काम ऐसा ही चोखा होना चाहिये। सो राम जाने सेठ जी तो चल बसे। चल क्या दिये, हमारा भाग्य ही फोड़ गये। पुरुष पारस होता है राम जाने। इधर वे चल दिये, उधर वह पैदावारी भी जाती रही। सो यह संवत् उन्नीस सौ नवासी की रकम राम जाने मेरे हिस्से का मुनाफा है। पर जब तक मालिक लोगों का हुक्म न हो, तब तक राम जाने हम इसे कैसे छू सकते हैं। आज मेरे बड़े भाग्य जगे हैं, जो आप हिसाब देखने को भेजे गये। अब मुझे पूरा भरोसा है राम जाने कि आपके द्वारा मुझे यह रकम जरूर मिल जायगी।'

राधाकान्त समझ गये, मुनीम जी किस कैंडे के आदमी हैं। झट उन्होंने अपने सामने रक्खे पानों में से एक उनकी ओर बढ़ाते और मुस्कराते हुए कह दिया,' तो राम जाने, मैं आज मालिकों को इस बात की सूचना दिये देता हूँ कि आप को यह रकम आज ही······यानी तुरन्त मय ब्याज के चुका दी जाय, ताकि फिर भविष्य में ऐसा कोई झंझट न पैदा हो। क्योंकि जब तक राम जाने आपको नमस्कार नहीं किया जायगा, तब तक इस रकम का ब्याज चढ़ता ही जायगा।'

उत्तर की भाषा कुछ रहस्यमयी-सी समझकर मुनीमजी घबराते हुए बोले—'मैं आपका मतलब कुछ समझा नहीं राधा बाबू।'

राधाकान्त ने सामने रक्खा पान का बीड़ा अपने मुँह में धारण करते हुए उत्तर दिया—'मैं अभी फोन से बातचीत करके शाम तक आपको इसका पूरा मतलब बता दूँगा। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है।' और इसके बाद ही उसने फोन मिलाना भी प्रारंभ कर दिया।

७

१२, क्रिष्टोदास पाल लेन,
पो०……बीडन स्ट्रीट, कलकत्ता।
१३. ६. ३२

प्रिय रमा बाबू,

मैं यहाँ आते-आते ही एकाएक बीमार पड़ गया। अब तबियत सँभल पायी है। पर आजकल दुकान के काम में इतना व्यस्त रहता हूँ कि अव-काश बहुत कम मिलता है। आपका समाचार भी बहुत दिनों से नहीं मिला। पत्र लिखने में मैं कितना आलसी हूँ, आप जानते ही हैं। परन्तु आपको तो पत्र भेजना चाहिये था। आशा है, आप प्रसन्न होंगे।

यहाँ काम में बिल्कुल जी नहीं लगता है। परन्तु फिर जबरदस्ती लगाना ही पड़ रहा है। पूरा समय देकर काम देखने में अभी तीन ही दिन हुए हैं कि यहाँ के मुनीमों में आतंक छा गया है। जब मैं आया था, तब कोई सीधे बात भी न करता था। पर अब क्षण-क्षण पर केवड़े का शरबत और पान, मिठाई और दावत का निमंत्रण मिलने लगा है। संसार का यही ढङ्ग है।

मेरे जीवन में बड़ा विपर्यय उपस्थित हो गया है रमा बाबू। रहन-सहन में लापरवाही बहुत आ गयी है। अपने ऊपर शासन कर नहीं पाता। और संयम न तो वाणी का रह गया है न मन का। किसी की कोई बात सुहाती नहीं है। कभी-कभी ऐसा क्रोध आ जाता है कि अपनी बात का विरोध करनेवाले के मुँह पर एक तमाचा ऐसा जड़ दूँ कि उसकी कनपटी भन्ना जाय। यह जानते हुए भी कि लोग कहेंगे……बड़ा झग-

ड़ालू पुरुष है, बात-बात में लोगों से झगड़ बैठता है। सब कुछ सोचता हूँ, सब कुछ समझता हूँ, पर जब जी ही नहीं मानता, तो क्या करूँ। एक बात यह भी है कि जब कुछ सोचता हूँ, समझता हूँ, कि बस यही ठीक है, उचित है, यथार्थ है, तब दूसरों की बातें और विचार मुझे सुनने, सहन करने और मानने की नहीं, तो कम-से-कम उसे टाल देने की इच्छा तो होती ही है। मेरी इस आदत पर यहाँ दूकानवाले हैरान हो रहे हैं। देखता हूँ, जीवन के लिए दृढ़ता की अत्यधिक आवश्यकता है। आप तो जानते ही हैं, मेरे आदर्श नैपोलियन हैं। अन्तिम भाग में यदि एक नैपोलियन असफल भी हुआ, तो कोई कारण नहीं कि उसका वह अनुयायी भी, जिसने उसके जीवन की अन्तिम असफलता के प्रकरण का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया हो, अन्त में असफल ही हो।

यहाँ की रातें बड़ी सुहावनी होती हैं। कसर इतनी ही है कि आप मुझसे इतनी दूर हैं। काश, आप भी यहाँ होते। मेरा यहाँ का काम अब अधिक से अधिक दस दिन का और रह गया है। कोई विशेष समाचार हो, तो लिखियेगा। मल्लिका को नमस्ते। बच्चों को प्यार।

सदा आपका
राधाकान्त

ऊपर लिखा पत्र लिखकर राधाकान्त ने लेटर बक्स में छोड़ दिया।

पत्र छोड़ तो दिया, पर इस पत्र से उनका जी नहीं भरा। इसमें वे कुछ और लिखना चाहते थे। क्या लिखना चाहते थे, सो सहज ही जानने की बात नहीं है। मनुष्य अध्ययनशील जीव है। वह निरन्तर कुछ-न-कुछ गुना करता है। आज भी यह पत्र छोड़ने के बाद राधाकान्त सोचने लगे······

'मनुष्य कितना परवश है। वह जो सोचता है, उसे मुँह भर कर कह नहीं सकता। जो कह सकता है, उसे कर नहीं सकता और जो करने की चेष्टा भी करता हो, तो उसे निभा नहीं सकता। आज यदि मैं इस पत्र

में मल्लिका के लिए कुछ लिख सकता, तो कितना सुखी होता। पर पत्र लिख कैसे सकता, यही तो मनुष्य-जीवन की परवशता है।

'परन्तु यह तो निराशावाद है। मनुष्य चाहे तो क्या नहीं कर सकता? फिर उसकी परवशता कैसी? राधाकान्त मनुष्य की परवशता का शत्रु है। वह जो सोचता है, उसे करके मानता है। वह बाधाओं से डरता नहीं। वह तो उनको कुचल कर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति है।'

बीडन स्ट्रीट के पोस्ट आफिस में पत्र छोड़ कर राधाकान्त अपने डेरे पर चले आये। आज आकाश कुछ मेघाच्छन्न था। शीतल समीरण झोंका ले-लेकर डोल रहा था। प्रकृति रानी को नवीन रूप-रेखा में देख कर अशान्त मन की चपल विचार-लहरी स्थिर गति से बहने लगी थी। जैसे ही राधाकान्त ने डेरे में प्रवेश किया, उनके नवीन मित्र जगदम्बा-प्रसाद ने बतलाया—'अभी-अभी डाकिया आया था, आपका एक पत्र आया है। उसे आपके बक्स के ऊपर मैंने रख दिया है।'

८

पत्र आने का संवाद पाकर राधाकान्त को कितनी प्रसन्नता हुई, यह बताना कठिन है। वह सोचने लगा—हो न हो, पत्र रमाशरण का ही होगा। झट से उठाकर उसे खोलने लगा। यदि वह चाहता और उसकी यह इच्छा भी उसके वश की होती, तो पत्र का कवर फाड़े बिना ही वह उसे पढ़ लेता। जब उत्सुकता की आँधी आती है, जब लालसा रानी जीवन के अणु-अणु को मुट्ठी में भर लेती है, सम्राट् अनंग जब भीतर की सुरङ्ग से आकर विस्फोट की अनुक्रमणिका तैयार करने में तत्पर हो उठते हैं, तब प्यार की कल्पना के मधुर मधु-सिक्त और केवड़े की लुभावनी खुशबू से तर-बतर पत्रों के कवर फाड़ने का एक क्षण भी कितना विशाल-

काय और बोझीला हो उठता है, इसका अनुभव वही कर सकता है, जिसे कभी ऐसा सुअवसर मिला हो।

कवर के एक कोने से दूसरे कोने तक का तटवर्ती भाग नखों से फाड़ लेने पर राधाकान्त उसे पढ़ने लगा। उसके मुख पर उत्साहपूर्ण उत्सुकता की लालिमा झलक उठी और उसकी आँखें पत्र की लकीरों पर जम गईं। ऐसा जान पड़ता है साकी का यह भरा प्याला राधाकान्त के लिए एक घूँट से भी कम है। परन्तु, अरे! यह हो क्या गया, एकाएक उसकी भाव-भंगी ऐसी बदल क्यों गई इतनी जल्दी उसका नशा उतर क्यों गया? उत्सुक आँखों की यह रसीली मुद्रा कहाँ चली गई। राधाकान्त पत्र को पुनः कवर में रख कर अपनी चारपाई पर बैठ गया। जगदम्बाप्रसाद अब तक आईने में अपनी मुखाकृति देख-देखकर कंघे से अपने घने बालों को सँवारने में लगा था। अब उसने पूछ दिया—'किसका पत्र है, यार मुझे भी बताओ।'

राधाकान्त ने अन्यमनस्क भाव से उत्तर दिया—'घर की चिट्ठी है, कुशल समाचार पूछा है।'

स्वर्गीय और स्वप्निल, स्वर्ण निर्मित और सुवासित, प्राण-प्रद और हर्षोत्फुल्ल प्रियतमा की भावना-लहरी से भीगे पत्र की यह कैसी विडम्बना है। हृदय के ज्योतिर्मय, सलोने, प्यार भरे शब्दों का यह कैसा प्राणपीड़क अनादर है। प्रियतमा के पत्रों की उत्सुकता आनन्द राशि की सीमा नहीं रखती। वह तो अलौकिक सुख का विषय है······इसी से तो अमर काव्यों का निर्माण होता आया है। पर राधाकान्त को आज अपनी पत्नी उमा का पत्र आना अच्छा नहीं लगा। वह तो कुछ और ही सोच रहा था। यदि आज यह पत्र मल्लिका का होता, तो उसकी प्रसन्नता असीम हो जाती, यह भी न होता, तो कम-से-कम रमाशरण का ही पत्र होता, फिर चाहे उसमें मल्लिका का नाम होता, चाहे न भी होता। उस पत्र से

मल्लिका का यत्किंचित संसर्ग तो होता ही। और इतना ही उसके लिए क्या कम होता।

वासना के माया-जाल में फँसे मनुष्य का यह कैसा अधम रूप है।

उमा ने पूछा था, 'तुमने इतने दिन लगा दिये, और एक पत्र तक न डाला। और न सही, अपना कुशल समाचार ही दिया होता। तारो तुम्हारी रोज याद करती है। वह पूछती है—'ताता तब आयें दे ?' मुझे उसके आगे रोज ही झूठ बोलना पड़ता है। 'वे, बस आने ही वाले हैं, मेरी तारो। आज रात को आ गये, तो आ गये नहीं तो कल जरूर आ जायेंगे।' तब वह सिर हिलाकर, अधखिला मुँह मटका कर कह उठती है—'तल आयेंदे, तल ?'

यह 'तारो' राधाकान्त की बालकन्या है बड़ी भोली; बड़ी प्यारी और वाचाल। और कोई होता तो अपनी पत्नी का ऐसा मीठा पत्र पाकर मारे आनन्द के फूला न समाता। पर राधाकान्त तो स्वप्न देखता है मल्लिका का। उस मल्लिका का; जो उसके मित्र की बहिन होने के नाते उसकी भी बहिन के समान है। वह सोचता है—फूल-सी कोमल, प्यार-सी मोहक शहद-सी मीठी और मदिरा सी मादक कहाँ वह राजहंसिनी मल्लिका और कहाँ यह उपली सी खुदखुदरी कीचड़-सी मैली, अर्ध शिक्षिता उमा ! कितका अन्तर है ?

कभी-कभी राधाकान्त अपने आपसे पूछता है—'तुझे हो क्या गया है ?' तो वह पागल अपने को जवाब देता है—'सृष्टि का सारा सौन्दर्य केवल मेरे लिए बना है।'

६

अमर्यादित सम्पन्नता जीवन को खोखला बना देती है। कई मकानों का स्वामी होने पर भी रमाशरण का हाथ कभी-कभी खाली हो जाता था।

'देखो दीनू, आज तुमको तनख्वाह मिल तो जाती, पर एक अड़चन हो गई है कि मेरी सेविंग्स बैंक की पास बुक कहीं खो गई है। इससे डाकखाने से रुपया निकल नहीं सकता। कम-से-कम आठ-दस दिन ठहरो, तब तक या तो पास बुक का पता चल जायगा, या दूसरी मिल जायगी। न भी मिल सकेगी, तो रुपये का प्रबन्ध तो हो ही जायगा।' रमाशरण ने बात बनाते हुए कहा। उनके मुख पर निराशा मिश्रित चिन्ता की झीनी कालिमा-सी पुती हुई थी।

'परन्तु मुझे तो मकानवाला आज मकान से बाहर निकाल कर मानेगा। उधर मोदी अलग अपनी दूकान पर बैठाल रक्खेगा, वह मुझे। उठने भी न देगा बाबू मैं क्या करूँगा? कैसे काम चलाऊँगा,' गिड़-गिड़ाकर, हाथ जोड़कर, रमाशरण के पैरों की धूल के निकट तक अपना मस्तक झुका कर रुँधे हुए कंठ से दीनू ने कहा।

यह पहला ही अवसर था जब रुपया न रहने पर उनको एक नौकर से झूठ भी बोलना पड़ा और फिर भी काम न चल सका।

अब रमाशरण क्या करें? बहाना तो खासा बनाया, पर वह भी चल नहीं सका। ऐसा ही अगर वह सोच सकता, तो कहीं से कुछ-न-कुछ लाकर ही दे देता।

वे मकान के भीतर चले गये और भार्या से बोले—'कुछ रुपये चाहिये, दीनू मानता नहीं है। देने ही पड़ेंगे।'

तारिणी बोली—'मेरे पास भी अब रुपये नहीं रहे। कहीं से ले आओ। किरायेदारों से मिलें, तब दे देना। मैं कहाँ से लाऊँ। सब जानते हुए भी मुझी से माँगते हो।'

'वकील साहब की पत्नी से नहीं ला सकती क्या? उनके रुपये पहुँचा तो दिये हैं!'

'रुपये पहुँचा दिये हैं, तो कौन एहसान किया? जब उन्होंने तकाजा ही भेजा, तब कहीं उनके पास पहुँचा सकी। तारीफ तो तब थी कि वादे

पर पहुँचाते। इसी तरह तो विश्वास चला जाता है। अब मैं किस तरह उनसे माँगने जाऊँ। मुझे तो लाज लगती है।'

'लाज तो जरूर लगती होगी, परन्तु गये बिना काम भी तो नहीं चलेगा!'

तारिणी उठी और वकील साहब के घर जा पहुँची। उस समय पड़ोसिनी वकील-पत्नी अपने बच्चे के लिए फ्राक सी रही थी। तारिणी को आयी देखकर सीना स्थगित करके बोली—'आओ जीजी, बैठो।'

वकील-पत्नी का नाम सरोजिनी है। वयस की थोड़ी, बातचीत की चपल।

तारिणी संकोच के मारे दबी जा रही थी। अगर इस समय वह किसी स्वार्थ को लेकर न आयी होती, तो कितनी प्रसन्नता की बात होती! लेकिन इस समय वह गम्भीर होकर बोली—'इस समय बैठने को नहीं आयी। एक काम से आयी हूँ। कुछ रुपये चाहिये। परसों महीना समाप्त होगा। फिर तो किरायेदारों से रुपया मिल ही जायगा। लेकिन जरूरत इसी समय है। ज्यादा नहीं, केवल दस रुपये चाहिये।'

सरोजिनी झट से उठी और बोली—'मैं अभी लाकर दिये देती हूँ। पर थोड़ी देर बैठ तो लो जीजी।'

तारिणी बोली—'नहीं, आज बहुत जल्दी है गुइयाँ।'

वकील-पत्नी ने रुपये लाकर तारिणी के हाथ पर रख दिये।

तारिणी खुश होकर बोली—'अच्छा अब चलती हूँ। शाम को मौका मिला, तो आऊँगी।'

तारिणी चली गई। सरोजिनी फिर सीने के काम में जा लगी। सूइँग मशीन की खट-खट के साथ वह सोचने लगी—'फूल सी कोमल इस सखी को भगवान् ने कैसे अर्थकष्ट में डाल रक्खा है!'

और तारिणी नौकरानी के साथ यह सोचती हुई चली जा रही थी

[illegible] दिन आयेगा, जब उसके हाथ में पैसा रहेगा और वह भी समय पर दूसरों की कुछ सेवा कर सकेगी।

दस रुपये पाकर सात रुपये तो रमाशरण ने दीनू को दे दिये, शेष दो [illegible] पॉकेट के हवाले किये और एक तारिणी को दे दिया।

दीनू रुपये लेकर संतोष की साँस लेता हुआ चल दिया।

शनिवार का दिन था, संध्या का समय। कई दिनों से रमाशरण ने सिनेमा नहीं देखा था। वह सोचने लगा—यदि इन दो रुपयों में से आठ आने खर्च ही कर डालूँगा, तो भी डेढ़ रुपया तो बचा ही रहेगा। इतने से दो दिन का काम चल जायगा। फिर पहली तारीख को तो कहीं न कहीं से रुपया मिल ही जायगा।

इसी समय मल्लिका आकर कहने लगी—'भैया, भाभी खाना तैयार किये देती हैं, कहीं जाना भी हो, तो खाकर ही जाइयेगा।'

रमाशरण ने कहा—'हाँ जाना तो है ही। आधा घंटा और रुक सकता हूँ।'

इतने में डाकिया आकर उपस्थित हो गया। एक लिफाफा लेकर उसने कमरे के अन्दर फेंक दिया। मल्लिका ने उसे उठाकर रमाशरण के सामने रख दिया। रमाशरण उस लिफाफे का कवर फाड़कर उसे पढ़ने लगे, तो मल्लिका चली आई।

सिनेमा में जब इण्टरवल हुआ और रमा दोस्तों के साथ बाहर निकला तो एक दूकान पर समोसे तले जा रहे थे। रमा के मुँह में पानी भर आया। बोला—'चार समोसे देना।' और रमा घर से भोजन करके आने पर भी वहाँ चार समोसे उड़ा गया। वास्तव में ये समोसे सबेरे के बने हुए थे। इस समय वही पुनः गरम करके दिये गये थे।

रमाशरण रात को ग्यारह बजे लौट कर आये और आते-ही-आते तुरन्त सो रहे। अकस्मात् एक बजे उनकी निद्रा भंग हो गयी। पेट में ऐसे जोरों के साथ दर्द शुरू हुआ कि उनका कराहना सुनकर तत्काल

मल्लिका और तारिणी जाग उठीं। दीनू भी जगाया गया। पर तब तक रमाशरण शौच को जा चुके थे। शौच से लौटकर अभी हाथ मलने को बैठे ही थे कि तुरन्त वमन करने लगे। वमन का वेग अभी शान्त हो नहीं पाया था कि फिर शौच को जा पहुँचे।

तारिणी घबराकर बोली—'हाय, अब मैं क्या करूँ, इनको तो जान पड़ता है, कालरा हो गया।'

मल्लिका शौचगृह के निकट जा पहुँची। रमाशरण पसीने से लतपथ हो गये थे। सहारे के बिना वे उठ नहीं सकते थे, मल्लिका वहीं से चिल्लाकर बोली—'भाभी, ओ भाभी, भैया को जरा सम्भालो आके।'

तारिणी आ गई। दोनों मिल कर दक्षिण तथा वाम स्कन्धों को सहारा देती हुई रमाशरण को भीतर ले आईं। एक आराम कुर्सी पर वे लेट गये। घर में रुपये नहीं थे, फिर भी रात को डाक्टर को बुलाया गया, दवा भी तत्परता से हुई, परन्तु अब देर हो चुकी थी। मृत्यु सिर पर आ पहुँची थी। कोई कर ही क्या सकता था! प्रातःकाल होते होते रमाशरण का स्वर्गवास हो गया!

पन्द्रह दिन बाद······

अब राधाकान्त कानपुर आ गये थे। रमाशरण की मृत्यु हो जाने का संवाद वे कलकत्ते में ही पा चुके थे। जब वे पहले-पहल मल्लिका के घर गये, तो खूब फूट-फूटकर रोये। तारिणी और मल्लिका भी देर तक रोती रहीं। फिर धीरे-धीरे जब रोने का क्रम शान्त हुआ, तो किस प्रकार एकाएक रमाशरण बीमार पड़े, कौन डाक्टर आया, और उस रात को घर और पड़ोस में कैसा कुहराम मचा रहा, यह सब तारिणी ने विस्तार-पूर्वक राधाकान्त से कह सुनाया।

बीच-बीच में राधाकान्त भी बोल देते थे—'ओह गजब हो गया। एक सपना सा हो गया।······मनुष्य के जीवन का कुछ ठिकाना नहीं है। वे अपनी चाल-व्यवहार में बड़े ही ऊँचे थे। उनकी-सी सज्जनता

देखने में कहाँ आती है ! वे मुझे बहुत मानते थे और मुझसे अत्यधिक प्रेम रखते थे। परन्तु फिर किया क्या जाय ? ईश्वर की ईश्वरता के आगे किसी का वश ही क्या है ? कोई कर ही क्या सकता है ? अन्त में धैर्य ही अवलम्ब है।'

दो-तीन घंटे इसी प्रकार बीत गये। जब तारिणी ने देखा, अब राधाकान्त को आये देर हुई, चलना चाहते होंगे, तो वह बोली—'अब आपका ही भरोसा है। आप ही खोज-खबर लेते रहें। इस वर्ष इसका विवाह निश्चित रूप से कर ही डालना है। भाई समझिये तो, पिता समझिये तो, इसके लिए आप ही हैं।'

मनुष्य के भीतर काल नाग कहाँ छिपा रहता है, यह वह स्वयं कभी जान नहीं पाता। आज उसके मन में कभी-कभी यह बात भी उठ खड़ी होती थी कि अब मेरी आशाएँ पूरी होकर रहेंगी। रमा के मरण में मेरे प्रति भगवान् की महती कृपा का ही हाथ है। परन्तु प्रकट रूप में वह बड़ा ही व्यावहारिक था। उत्तर के शब्द थे—'तुम भी भाभी, यह सब क्या कहती हो ? ये सब भी क्या कहने की बातें हैं ? भगवान् चाहेगा, तो जल्दी-से-जल्दी सब ठीक हो जायेगा। घबड़ाने से तो काम चलेगा नहीं। रमाशरण नहीं रहे, तो क्या इसका यह अर्थ है कि तुम्हारा कोई काम अटका रहेगा ? ऐसा नहीं होगा। मैं प्राण-पण आपकी सेवा में सदा तत्पर रहूँगा।'

इतना कहकर राधाकान्त जब चलने लगा, तब भी मल्लिका की कमनीय छवि उसकी आँखों में भरी हुई थी।

१०

राधाकान्त के मन के भीतर जो पिशाच बैठ गया था, अब उसकी पशु-वृत्तियाँ पूर्ण रूप से सजग हो उठी थीं। यों तो वर्ष डेढ़ वर्ष से वह

उमा से प्रेम-वार्ता छोड़ बैठा था, पर इन दिनों तो उमा के प्रति उसकी अन्यमनस्कता चरम सीमा पर पहुँच गई थी।

उमा राधाकान्त को कितना चाहती थी, यह वह स्वयं नहीं जानती थी। एक वाक्य में इतना ही कहा जा सकता है, कि वह उस पर जान देती थी। जब राधाकान्त कलकत्ते में थे, तब तक कोई ऐसी असाधारण बात उसके साथ के व्यवहारों में नहीं उत्पन्न हुई थी, परन्तु जब से राधा बाबू कलकत्ते से लौटे हैं, तब से वे कैसे हो गये हैं, उमा बहुत सोचने पर भी कुछ स्थिर न कर पाती थी।

इसका कारण था। राधाकान्त उमा को कम प्यार न करता था। वह उसके स्वास्थ्य और आमोद-प्रमोद का बड़ा ध्यान रखता था। साधारण श्रेणी के नागरिक जीवन में जिस कोटि का जीवन संतोषकर माना जाता है, राधाकान्त उमा के लिए उस सबकी पूर्ति करते रहने को सदा सचेष्ट रहा करता था। किन्तु यह आन्तरिक अभिलाषा का बहिर्गत रूप था। आन्तरिक रूप को राधाकान्त किसी से प्रकट नहीं करता था।

राधाकान्त के घर में केवल पिता नहीं हैं। पत्नी के सिवा माता, भाई, बहिन सभी हैं। छोटे दो भाइयों में से एक रजनीकान्त एफ० ए० में पढ़ता है। दूसरा अभी छोटा है। बड़ी बहिन जम्पर सी रही है। राधाकान्त की माँ ऊपर के कार्यों की देख-रेख में हैं। अब रही राधाकान्त की पत्नी उमा। सो वही रसोई बना रही है। राधाकान्त ग्यारह बजे से पहले दूकान नहीं जाते हैं। नौ बजने का समय है। किसी पुस्तक की खोज में घर के भीतर जो आये, तो एक बार रसोईघर की ओर भी झाँकते गये। गरमी के दिन हैं। स्वेद-बूँद उमा के गोरे मुख पर झलक रहे हैं। रोटी सेंकते हुए उसने उमा को देखा। एक छोटी कंकड़ी चौके में फेंकते हुए स्थिर होकर कहीं छिपे-छिपे खड़े हो गये। उमा ने देखा······कौन है, किधर से यह कंकड़ी आई और किसने फेंक दी। चकित जिज्ञासा अपनी दृष्टि में भरकर वह इधर-उधर देखने लगी। दृष्टि

ऊपर जाते ही, देखती क्या है कि एक ओर राधाकान्त झाँक रहे हैं। बोली—'अरे तुम हो! अम्मा देख लेंगी, तो क्या कहेंगी?'

धृष्ट राधाकान्त बोले—'ऊँह देख लेंगी, तो देख लें। कहेंगी क्या? और कहने को होगा, कह भी लेंगी, तो क्या होगा!'

उमा एक बार उनकी ओर देखकर प्रफुल्ल हो उठी। उसका रोम-रोम विहँस उठा।

राधाकान्त बोले—'मैं भी न आऊँ। तुमको इस समय यहाँ बड़ा कष्ट मिल रहा है।'

साड़ी की बाँई किनारी को भीतर की ओर, अपनी कमल नाल सी अँगुलियों से, खींचते हुए उमा ने कहा—'मेरा कौन-कौन सा कष्ट बटाओगे तुम? जाओ, अपना काम देखो। जीजी कहीं आती न हों!'

राधाकान्त उमा की इस बात को सुनकर चुपचाप चले आये। अब बार-बार उसके कानों में यही शब्द गूँजने लगे—'मेरा कौन-कौन कष्ट बटाओगे तुम?' बैठकर थोड़ी देर तक पुस्तक इधर-उधर देखते रहे। तब तक बड़ी बहिन ने बुलाया—'राधाकान्त भैया, चलो, खाना खा लो!'

राधाकान्त खाना खाने के लिए बैठे। उमा ने थाली में खाना परोस दिया। बहिन ने सिलाई बन्द करके अचार निकाल कर एक कटोरे में रख दिया। माँ ने कहा—'मीरा, दही भी भैया को रख देना। जब तू उसे खटाई देने को उठ ही बैठी, तो दही भी तू ही दे दे। अरे हाँ, अब कौन उठे।'

इस प्रकार धीरे-धीरे जब खाने के सारे पदार्थ राधाकान्त के सामने आ गये, तो उन्होंने खाना शुरू किया। दूकान पर जाने की कोई जल्दी नहीं है। इसलिए इतमीनान के साथ वे खाना खा रहे हैं। वे खाना खाते जाते हैं और कभी-कभी उमा की ओर देख लेते हैं।

उमा जब स्वामी की थाली में रोटी चुकती हुई देखती है, तो चुप-चाप रख देती है। यह क्रम बीच में कभी टूटने नहीं पाता। अन्त में

जब राधा बाबू कह देते—'बस अब न रखना' तो उमा कह देती—'अरे अभी से नहीं करने लगे ! अभी तो तुमने कुछ भी नहीं खाया।' एक दिन जब ऐसा अवसर उपस्थित हुआ तो उमा बोल उठी—'इसीलिये खाना बनाने को मैं आनाकानी कर देती हूँ। अम्मा इस भेद को नहीं जानतीं।'

राधाकान्त बोले—'कौने से भेद को ?'

मुस्कराती हुई उमा बोली—'अब मुझ से ही पूछना चाहते हो ?'

'क्यों इसमें भी क्या कुछ भेद है !' राधाकान्त ने मुस्कराते हुए कहा।

'भेद क्यों नहीं,' रसीली कनखियों में एक बार राधाकान्त की ओर देखकर, रोटी सम्हालती हुई उमा कहने लगी—'भेद की बात तो है ही ?'

'क्या है, आखिर सुनूँ भी तो,' उमा की ओर अपनी सम्पूर्ण लालसा-भरीं दृष्टि डालते हुए राधाकान्त ने कहा। उस समय कोई उन्हें देखता तो यही कहता राधाकान्त केवल उमा से बातें करने के लिये खाने बैठता है। उसकी जिज्ञासा के प्रतिरूप ने, जान पड़ा, उस समय अपना एक कमनीय आकार-सा स्थिर कर लिया था।

उमा ने जो उसकी ओर दृष्टि डाली, तो वह देखती क्या है कि राधाकान्त खाना बन्द किये हुए उसकी ओर इकटक देख रहे हैं। और तब झट से वह कहने लगी—'बस यही बात है।'

मंद मधुर हास छिटकाते हुए राधाकान्त अस्थिर होकर पूछने लगे, 'क्या-क्या, जल्दी बताओ; साफ-साफ कहो, बात क्या है ?'

उमा बोली—'अब इस समय रहने दो। फिर किसी अवसर पर बताऊँगी।'

राधाकान्त ने कहा—'अच्छा हाँ, यही ठीक है।'

थोड़ी देर और ठहरकर राधाकान्त उठ खड़े हुए।

आज का दिन राधाकान्त को बड़ी उलझन में व्यतीत करना पड़ा। 'कब उमा से वार्त्तालाप हो' बार-बार वह यही सोचता रहा।

यह प्रतीक्षा भी एक प्रकार की माया है कितनी आकर्षक और उल्लासमयी !

बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद उमा राधाकान्त के शयन कक्ष में आई, तो राधाकान्त का हृत्पिंड एक बार कम्पित हो उठा। जीवन की इन्हीं घड़ियों के लिए मनुष्य प्रपंच रचता है, काट-कपट में लीन रहता, मिथ्या को यथार्थ और यथार्थ को मिथ्या किया करता है। प्रियतमा की पग-ध्वनि जब अपने निकट तीव्रतर होने लगती है, तब उस नीरव तमिस्रा में, एक हिन्दू तद् गृहस्थ की अट्टालिका पर दाम्पत्य जीवन का जो अमल-धवल स्वर्गिक रूप खड़ा होता है, राधाकान्त उसे अलौकिक मानता है।

जब उमा के आगमन की रुनझुन राधाकान्त के कानों में पड़ी, तो यौवन वसन्त का एक उन्माद झोंका उसको झकझोर गया।

क्षण भर बाद राधाकान्त ने पूछा—'सच-सच बतलाओ उमा, क्या सचमुच मैं असभ्य हूँ ?'

लाजवंती उमा बोली—'मैं क्या जानूँ ! मैं तो इतना ही जानती हूँ कि विवाहित पुरुष और नारी का एकान्त मिलन बहुधा इस प्रश्न पर विचार नहीं करता।'

'यह तो तुम ठीक कहती हो उमा,' राधाकान्त के मुँह से निकल गया। अब उन्होंने पूछा—'हाँ अब बताओ, वह भेद की बात कौन सी है ?'

उमा बोली—'यों बात कुछ भी नहीं है, और समझो तो बड़े महत्व की है। मुझे तो बड़ी लाज लगती है। दीदी के मारे मैं तंग आ जाती हूँ। मुझसे कोई जवाब ही नहीं देते बनता। उन्होंने मेरे विचित्र नाम धर रक्खे हैं ! कभी कहती हैं—तू तो जादू की पुड़िया है और कभी

कहती हैं—तू मेरेभैया की 'मैना' है। बात यह है कि तुम जब खाना खाने बैठते हो, तब कभी-कभी खाना यकायक बन्द करके मुझे देखने लग जाते हो। दीदी ने एक बार नहीं, अनेक बार तुमको इसी दशा में देखा है। कभी-कभी वे हँसी-हँसी में कह उठती हैं—वशीकरण मन्त्र अगर किसी के पास हो सकता है तो वह तू ही है रानी। भैया तुम्हें जितना चाहते हैं उतना वे किसी को नहीं चाहते······अपने आपको भी नहीं। सच जानो भाभी, यह बात मैं बनाकर नहीं, अपने अन्त:करण से कहती हूँ। अब आगे और मैं तुमको क्या समझाऊँ, तुम्हीं सोचकर देख लो। मैं उनको लाख समझाती हूँ, पर वे मेरी एक नहीं मानतीं।'

पुलकित राधाकान्त बोले—'बस, यही बात है, या और भी कुछ ?'

उमा ने उत्तर दिया—'है तो इतनी ही, पर यह भी क्या कोई छोटी बात है ? ब्याह सब के होते हैं, प्यार भी सब कोई करता हैं, पति-पत्नी की प्रेम-लीलाएँ सदा से चली आई हैं, पर तुम्हारी भाँति पागल होते मैंने किसी को नहीं देखा। मेरे भी तो भाभी हैं। कितनी शरमीली हैं! यद्यपि कई बच्चों की माँ हो चुकी, पर मैंने उन्हें कभी अपने सामने घूँघट लटकाये, नीची दृष्टि किये बिना भैया से बात करते नहीं देखा;—हँसना अठिलाना तो दूर की बात है।'

कुछ गम्भीर होकर राधाकान्त कहने लगे—'दशा कुछ ऐसी ही है उमा! मैं मानता हूँ; पर मैं क्या करूँ। मैं जानता ही न था, मैंने कभी ऐसा अनुभव ही नहीं किया था, बल्कि कहना होगा कभी इसकी कल्पना तक नहीं की थी कि एक दिन तुमको देखते रहने को मैं इतना अधीर, व्याकुल और उल्लसित रहूँगा। यह प्यास ही कुछ ऐसी गहरी है कि कभी बुझती ही नहीं। यही इच्छा सदा बलवती बनी रहती है कि तुमको सदा निकट ही रक्खूँ, कहीं जाने न दूँ। क्या बात है, मैं समझ नहीं पाता। लेकिन चाहे जो कुछ हो, दिदिया ने जो बातें तुमसे कीं, वे मुझे बहुत अच्छी लगीं। मैं नहीं जानता था, नारी का हृदय ऐसा सजग, चेतन

होता है। पुरुष के आन्तरिक भाव को नारी कितनी जल्दी ग्रहण कर सकती है, मेरे सामने ऐसा कोई संयोग नहीं आया था। खैर, अब यह बताओ कि और क्या-क्या कहती थीं दिदिया ?"

'आज बस इतना ही। बाकी कल। मुझे नींद लगी है,' कह कर उमा ने करवँट बदल ली किन्तु राधाकान्त देर तक जगता रहा। बार-बार उसके मन में आता था यह कैसी प्यास है जिसका कभी अन्त नहीं होता !

इसी समय पड़ोस के एक सद्‌गृहस्थ ने अपना ऊपर का शयनागार खोलकर बिजली बत्ती जला दी और ग्रामोफोन के नाचते हुए रिकार्ड पर सुई लगा दी। चतुर्दिक मृदुल स्वर गूँजने लगा—

'हटो, छेड़ों न कन्हाई, काहे को रार मचाई।'

११

बाबू रमाशरण जब तक जीवित थे, तब तक तारिणी का जीवन एक निश्चित गति से प्रवाहित हो रहा था। रमा बाबू हाथ के खर्चीले व्यक्ति थे। इस कारण उसको कभी-कभी गृहस्थी की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। किन्तु ऐसी स्थिति बहुत कम आती थी। आयी भी थी, तो तुरन्त किसी न किसी प्रकार उसकी पूर्ति की व्यवस्था भी हो जाती थी और उसके जीवन की गति में कोई अन्तर न आने पाता था। किन्तु भविष्य के लिए कोई स्थायी कोष बनाते रहने की ओर तो न रमाशरण ही का ध्यान था, न तारिणी का ही। विवाहित जीवन के विगत वर्ष सच पूछो तो तारिणी के लिए पूर्ण रूप से सुखमय बीते थे। उसने न तो कभी ऐसा सोचा था, न कभी ऐसा सोचने के लिए कोई कारण उसके सामने उपस्थित हुआ था कि उसके पति के देहान्त के पश्चात् उसकी स्थिति क्या होगी।

सन्तान का अभाव उसके जीवन की सबसे अधिक पीड़क, मर्मान्तक व्यथा थी। तारिणी इस अभाव का अनुभव करती थी। किन्तु अपना यह दुःख वह कभी किसी से प्रकट न करती थी। संयोग से, उसकी सखियों में, यदि कभी कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित ही हो जाता, तो भी वह इस सम्बन्ध में कभी कुछ कहती न थी। हाँ, उसकी सखी सरोजनी जब कभी कह देती······इस समय अगर तुम्हारे एक बच्चा हो जाता, तो कितने सुख की बात होती तब अलबत्ता उसकी आँखों में आँसू छल-छला आते थे। किन्तु अभी तारिणी की उमर ही क्या थी। इसलिये वह निराश नहीं हुई थी। चालीस-पैंतालिस वर्ष की अवस्था में भी तो स्त्रियों के बच्चे होते हैं। यही सोचकर वह संतोष कर लेती थी। किन्तु अब तो उसके मनस्तोष की वह आशा-वल्लरी भी सूख गई थी। आज तो उसके सामने अन्धकार ही अन्धकार रह गया था।

एक कठिनाई और थी। उसके मकानों का किराया अस्सी रुपये के लगभग आता था। किन्तु किराया वसूल करना, मकानों की देख-रेख करना, वक्त पर हाउस-टैक्स और वाटर-टैक्स पहुँचाना, वर्ष में दो बार सफेदी करवाना और टूटे-फूटे सड़े तख्तों, दरवाजों तथा सीमेंटेड स्थलों की मरम्मत आदि कामों का प्रबन्ध करनेवाला भी उसके यहाँ कोई न था। रमा बाबू के अंतिम-संस्कार के उपलक्ष्य में आये हुए रिश्तेदार लोग जा चुके थे। तारिणी का एक भाई ही अभी तक वहाँ सपत्नीक ठहरा हुआ था। वह सोचती थी कि उसका वह भाई यहाँ बना रहेगा तो प्रबन्ध का सब काम ठीक तरह से चलता रहेगा। जब अन्य नातेदार जाने लगे और केवल लोचनप्रसाद रह गये, तो उन्होंने भी अपने जाने की इच्छा प्रकट की। तारिणी ने कहा—'छोटे भैया, अब तुम यहीं रह जाओ। तुम्हारे बिना वहाँ का कोई भी काम रुका न रहेगा; परन्तु यहाँ अपने एक खास आदमी के बिना काम चल नहीं सकता।'

जब एकाएक लोचनप्रसाद ने यह बात सुनी, तो कुछ समय के लिए

वह विचार में पड़ गया। उसके सामने यह एक नई समस्या थी। वह न तो घर से ऐसा सोचकर आया था, और न किसी ने इस विषय में उससे कुछ कहा ही था। उसके दो अन्य बड़े भाई भी घर पर थे। उनसे आज्ञा लिये बिना वह इस विषय में कुछ कह नहीं सकता था। अतएव उसने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—'बड़े भैया से सलाह लिए बिना मैं अभी कुछ कह नहीं सकता बहिन।'

साग काटती हुई तारिणी बोली—'किन्तु बड़े भैया इसको मान न लेंगे……? क्या वे इसमें कुछ आपत्ति करेंगे? चिट्ठी लिख देने से काम नहीं चल सकता? वहाँ चले जाने से यहाँ का सब काम पड़ा रहेगा। जरा सोच देखो, आखिरकार तुम्हीं को यह सब करना है। मैं अनाथ स्त्री ठहरी, अब मेरे लिए जो कुछ भी हो, तुम्हीं लोग हो। और अधिक मैं तुमसे क्या कहूँ।'

अन्तिम वाक्य कहते-कहते तारिणी की आँखों में आँसू भर आये।

लोचनप्रसाद प्रभावित होकर बोले—'तो इसमें घबराने की क्या बात है? हम लोग हर प्रकार की सेवा के लिए तैयार हैं। हमारे रहते हुए किसी प्रकार का कष्ट न होने पायेगा। इसके लिए तुम निश्चिन्त रहो। फिलहाल मैं तुम्हारी भाभी को यहीं छोड़े जाता हूँ। मैं आज शाम की ट्रेन से जाऊँगा और बड़े भैया से सलाह करके फिर तुरन्त दो-एक दिन में लौट आऊँगा।'

तारिणी को इस बात से कुछ सन्तोष हुआ। वह बोली—'अच्छा, ऐसा ही करो। परन्तु यह अच्छी तरह से समझ लो कि इस घर का भार अब तुम्हीं लोग सँभालोगे तो सँभलेगा।'

दोपहर के दो नहीं बजे थे। सबेरे पानी बरस गया था। इस समय तेज धूप मकान के ऊपरी भाग में फैली हुई थी। ग्यारह बजे खाना खाकर सब लोग अलग-अलग स्थानों पर, जहाँ जिसको सुविधा जनक स्थान मिला, लेटे हुए दुपहरिया की नींद ले रहे थे। भीतर की ओर के एक छोटे से

कमरे में लोचनप्रसाद भी चारपाई पर लेटे हुए पंखा झल रहे थे। नींद उनकी पूरी हो चुकी थी। उठकर वे ठंढा पानी भी पी चुके थे। अब केवल पसीने को देख-देख कर अपने बदन पर पंखा झल रहे थे। उसी समय उनकी देवी जी आकर उपस्थित हो गईं। यद्यपि जब चौड़ी हरी पाट की धोती दिखलायी पड़ी थी तभी उन्होंने समझ लिया था कि श्रीमती जी की सवारी आ रही है। अतः जैसे ही वे निकट आकर घूँघट को थोड़ा उचका कर खड़ी हो गईं......वैसे ही लोचनप्रसाद ने पूछा—'कहो, क्या बात है ?'

देवी जी सीतलपाटी की एक चटाई, जो वहीं कोने में खड़ी रक्खी हुई थी, पक्के के धुले ठंडे फर्श पर बिछाकर बैठ गईं। सामने के खुले किवाड़ों में से एक को जो अपनी ओर देख रहा था, उन्होंने बन्द कर दिया था दूसरा खुला रहने दिया।

अब देवी जी बोलीं—'जाते तो हो, पर दादा से कहोगे क्या ?'

लोचनप्रसाद ने उत्तर दिया—'कहने को अब है ही क्या ? जैसी कुछ स्थिति है, वही कहूँगा। कहूँगा कि दिदिया के यहाँ अब हममें से एक के रहने की बड़ी जरूरत है। बिना अपने खास आदमी के रहे उनका काम सम्हल नहीं सकेगा। इसीलिए वे चाहती हैं कि मैं वहीं रहूँ और उनकी बँधी हुई गृहस्थी को बिगड़ने न दूँ। उनकी ननंद मल्लिका सयानी हो गयी है। उसका विवाह करने की जरूरत है। जब तक उसका विवाह नहीं हो जाता, तब तक तो दिदिया किसी प्रकार कानपुर छोड़ न सकेंगी। विवाह के बाद भले ही उन्हें यहाँ बुला लिया जाय।'

देवीजी पान के दो बीड़े अपने हाथ में दबाकर लायी थीं; स्वामी को देती हुई बोलीं—'इन बातों में और तो सब ठीक ही है, दो-एक बात और कहने की जरूरत है। उन्हें तुम भी सोच लो। बड़ी जीजी और अम्मा पूछेंगी कि बहू को वहाँ क्यों छोड़ आये, तो कहना कि ज़ीजी ने अभी उसे आने नहीं दिया। कहा, कुछ दिनों के लिए अभी भाभी को

यहीं रहने दो। फिर पीछे भेज दूँगी। बात यह है कि मुझे यहाँ बड़ा अच्छा लगता है। देहात का रहना मुझे उतना अच्छा नहीं लगता। मैं अब यहीं रहना चाहती हूँ। फिर, तुम अगर यहाँ रहोगे तो मैं वहाँ अकेले कैसे रहूँगी। अपना घर कहीं भगा थोड़े ही जाता है। वह तो अपना बना ही है। यहाँ रहने में थोड़ा-बहुत लाभ भी है।'

लोचनप्रसाद अब तक अपनी भार्या की बातें बड़े चाव से सुन रहे थे। जो बातें वह कर रही थी, एक प्रकार से वे उनसे सहमत ही थे। परन्तु उसकी अन्तिम बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। उन्होंने कहा—'मान्य के यहाँ लाभ की बातें सोचना व्यर्थ है। मैं इस चीज को पसन्द नहीं करता। आज कीं सो कीं, पर भविष्य में फिर कभी मेरे सामने इस प्रकार की बातें न करना।'

लोचनप्रसाद स्वभाव के जितने सरल और स्वच्छ थे, उनकी श्रीमती जी उतनी ही बंकिम और मायाविनी थीं। कुछ तीव्रता के साथ वे बोलीं—'तो क्या मुफ्त ही में यहाँ जीजी की गुलामी करोगे? अटक पड़ने पर दो-चार दिन, या महीना-डेढ़ महीना सही, अपने आत्मीय जनों का काम कर देना और बात है। परन्तु निरन्तर या वर्षों के लिए निस्वार्थ भाव से काम करना, अपना पसीना बहाना आजकल के समय में निरी मूर्खता समझी जाती है। मगर तुम्हारी इच्छा यहाँ सिर्फ रोटियाँ तोड़ने की हो, तो अभी मुझसे साफ-साफ बतला दो और अच्छा हो कि अभी मुझे लेते चलो। मैंने तो तुम्हारे ही आराम के विचार से ऐसा सोचा था। परन्तु जब तुम्हारी नीति सदा फकीर ही बने रहने की है, तो मेरे कहने-सुनने से होता क्या है!'

लोचनप्रसाद ने क्रोधित होकर कहा—'जा जा, अपना काम कर मुझे उपदेश देने चली है। दुष्ट कहीं की, कहावत प्रसिद्ध है कि 'किसी का घर जले, कोई हाथ सेंके।' दिदिया इस समय कितनी मुसीबत में हैं,

यह तो देखती नहीं, देखती है अपने स्वार्थ को। मुझसे यह सब न होगा।'

लोचनप्रसाद के इतना कहते ही उनकी देवी जी तिनँगकर चल दीं। परन्तु चलते समय वे इतना और कहती गईं—'देखूँगी, तुम यहाँ कितने दिन रह पाते हो।'

लोचनप्रसाद पत्नी की बात सुनकर विचार में पड़ गये, किन्तु उनकी पत्नी वहाँ से सीधी तारिणी के पास जाकर उसके ऊपर पंखा झलने लगी।

१२

तारिणी अब तक राधा बाबू के सामने न होती थी। रमा बाबू की उपस्थिति में ऐसा अवसर ही उसके सामने नहीं आया था। किन्तु अब वह बात नहीं थी। उस दिन जब वे सहानुभूति प्रकट करने आये थे, तब भी वह कमरे के भीतर ही बनी रही थी। किन्तु इस समय दिन के छै बज रहे थे और कमरे के भीतर क्षीण अन्धकार था। बाहर की अँगनाई में पानी छिड़का जा चुका था। दो-चार दरियाँ बिछी हुई थीं, जिनमें से एक पर तो लोचनबाबू का डेढ़ वर्ष का बच्चा लेटा हुआ था। नीचे चौकी डालकर उनकी श्रीमती जी उस पर पंखा झल रही थीं। दूसरी चारपाई पर तारिणी बैठी रामायण पढ़ रही थी। मल्लिका ऊपर के कमरे में बैठी हुई अपनी किसी सखी से बातें कर रही थी। इसी समय राधाकान्त ने आकर बाहरी किवाड़ों की साँकल खटखटायी तो तारिणी ने भीतर ही से पूछा—'कौन है?'

राधाकान्त ने कहा—'मैं हूँ, राधाकान्त।'

झट से तारिणी चारपाई पर से उठ बैठी। बोली—'आइये, इधर निकल आइये।'

राधाकान्त आकर चारपायी पर बैठ गये। तारिणी थोड़े फासले से एक चौकी पर बैठ रही। लोचन बाबू की स्त्री जहाँ की तहाँ बैठी रही। केवल घूँघट उसने थोड़ा और नीचे लटका लिया।

राधाकान्त बोले—'कहो भाभी, किसी बात की तकलीफ तो नहीं है?'

यद्यपि तारिणी के लिए राधा बाबू का यह 'भाभी' सम्बोधन अभी नवीन ही था तो भी मन में किसी प्रकार का कोई भाव लाये बिना अवगुंठन के एक कोने की दो अँगुलियों से रोककर उसने कहा—'तकलीफ तो अभी कोई नहीं है। होगी, तो आप लोगों का ही सहारा है। फिलहाल छोटे भैया को मैंने यहीं अपने साथ रखने का विचार किया है। मेरे तीन भाई हैं। छोटे भैया के यहाँ रहने से वहाँ के काम में कोई भी अड़चन न होगी, और यहाँ हमारा काम भी चलता जायगा। बड़े भैया तथा अम्मा से इसी विषय में सलाह करने के लिए वे आज घर गये हुए हैं। दो-एक दिन में आ जायँगे। ये हमारी छोटी भाभी हैं।'

राधा बाबू बोले—'यह तुमने बहुत अच्छा किया। इस तरह से यहाँ की व्यवस्था में कोई त्रुटि न आने पायेगी। यद्यपि इसके लिए भाई साहब को ज़रा दिलचस्पी रखने की ज़रूरत पड़ेगी। यह काम बड़ी मुड़पच्ची का है। बाज़ किरायेदार बड़े बहानेबाज़ और बेईमान होते हैं। जहाँ बकाया पड़ा कि फिर रुपया लटक ही जाता है। उनकी बातों पर विश्वास करके बकाया रखनेवाले मकान-मालिक रोते रह जाते हैं और किराया वसूल नहीं हो पाता। इस काम में पड़ने वाला आदमी तो ऐसा हो कि, जिसको पा जाय, उसकी गर्दन में चींटी की तरह चिपट जाय और तब तक पिण्ड न छोड़े, जब तक रुपया न वसूल कर ले। भाई साहब के सम्बन्ध में अभी मैं क्या कह सकता हूँ। परन्तु इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि अत्यधिक सीधा और उदार आदमी इस काम को कर नहीं सकता।'

तारिणी इस समय फूँक-फूँक कर आगे बढ़ना चाहती थी। राधा बाबू की बात का समर्थन करती हुई वह बोली—'छोटे भैया आ जायें, तो

उन्हें आपके पास भेजूँ। आप उन्हें ये सब बातें समझा दीजियेगा। शुरू में भले ही दिक्कत पड़े, परन्तु थोड़े दिनों में आपके कहने के अनुसार चलने से वे सब काम ठीक तौर से करने लगेंगे।'

नाक सिकोड़ कर कान खुजलाते हुए राधा बाबू बोले—'हाँ, इस समय बहुत सोच-समझकर चलने की जरूरत है। मल्लिका नहीं दिखलाई पड़ती।'

तारिणी ने कमरे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—'अपनी एक सखी से बात कर रही है। पर उसके लिए कोई वर तो खोजिये। अबकी जाड़ों में उसका विवाह कर ही डालना है।'

राधा बाबू वास्तव में यह नहीं चाहते थे कि मल्लिका का विवाह कहीं तै हो। इसीलिये जब उसके विवाह की बात उठती, तब किन्तु लगाये बिना मानते न थे। आज भी इसी भाँति उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ, मैंने कई मित्रों से कह रक्खा है। मैं खुद भी खोज में हूँ। परन्तु बड़ी कठिनाई तो यह है कि एक तो अच्छे लड़के मिलते नहीं और जो मिलते भी हैं, उनके सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये जब लेन-देन की थाह लेता हूँ, तो दस हजार से कम में वे लोग बात नहीं करते। हमारे समाज की अवस्था ही कुछ ऐसी बिगड़ी हुई है कि एक भी लड़की अगर ब्याहनी पड़ गई, तो गृहस्थी की सारी मर्यादा खोखली हो जाती है।'

सिर की साड़ी सम्हालती हुई तारिणी बोली—'बात तो आप ठीक ही कह रहे हैं। परन्तु रुपये का भी कुछ न कुछ प्रबन्ध करना ही पड़ेगा। पाँच हजार रुपये खर्च करने का इरादा उनका भी था। सो, अब वह बात तो न हो पायेगी, फिर भी तीन हजार रुपये खर्च करने ही पड़ेंगे। इसलिए अच्छा हो कि आप हमारी स्थिति का ही वर ढूँढ़ें। लड़का पढ़ा-लिखा, स्वस्थ और कुलीन होना चाहिये। घर की स्थिति साधारण भी हो, तो भी मुझे आपत्ति न होगी। समय ऐसा आ लगा है कि बड़े-बड़े

ताल्लुकेदार मिट रहे हैं। हमारी कौन गिनती है। बल्कि लड़का अगर पहले से ही किसी काम में लगा हुआ हो, तो और भी अच्छा।'

भावना में पड़कर राधाकान्त बोल उठे—'आपकी बातें सुनकर मुझे भी इस समय रमा बाबू की याद आ गई। उनके साथ बैठकर जब मैं देश की गम्भीर समस्याओं पर विचार करने लगता था, और जब उनको अपने विचार विस्तार के साथ प्रकट करने का अवसर मिलता था, तो साधारण वार्त्तालाप में भी दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह मिनट तक उनकी बातों का तार नहीं टूटता था। वे प्रबन्ध-कार्य में दक्ष न थे, परन्तु उनकी विचारधारा बड़ी प्रखर और निर्मल होती थी।'

राधाकान्त के इस कथन ने वातावरण का रूप ही बदल दिया। एक क्षण तक तो कोई कुछ नहीं बोला। परन्तु फिर तारिणी सिसकियाँ भर-भर कर रोने लगी। राधाकान्त की आँखों में भी आँसू छलक आये। उनके इन्हीं गुणों ने इस परिवार के लिए उनको परम विश्वसनीय बना लिया था।

आठ-दस मिनट तक तारिणी का यही हाल रहा। उस दिन जब इसी तरह की बातें चल रही थीं, मल्लिका अपनी सखी के साथ नीचे उतर आई। वह अपने घर वापस जा रही थी, अतः मल्लिका भी उसको दरवाजे तक भेजने चली गई थी। जब वह सखी को भेजकर वापस आई, तो दुःख का वातावरण देखकर उसकी आँखों से भी आँसुओं की बूँदें गिरने लगी। रुमाल से उसने अपना मुँह ढँक लिया—और जब तक वह भाभी के पास होकर ऊपर जाने को हुई कि बीच में ही खम्भे का सहारा ग्रहण कर जोर से रो पड़ी।

अब तारिणी ने रोना बन्द कर, आँसू पोंछते हुए कहा—'रो मत बिट्टी, ले मैं भी नहीं रोऊँगी।' और फिर तुरन्त अपने को सम्हाल कर बोली—'जिस दिन से वे नहीं रहे, उस दिन से इससे ठीक तरह से खाना नहीं खाया गया। दुर्बल भी यह कितनी हो गई! उन्होंने इसे

कितनी साध से अँग्रेजी पढ़ाई थी। वे कहा करते थे—मल्लिका जिस दिन अपनी ससुराल जायगी, उस दिन उसकी सास और ननंद उसे देखकर राई-नोंन उतारेंगी—सोचेंगी, कहीं इसे नजर न लग जाय ?'

अवसर के अनुरूप राधा बाबू बोले—'उनकी बात ही निराली थी। वे पुरुष नहीं थे, पारस थे। जो उनके सम्पर्क में आया, वही सोना हो गया।'

दो मिनट तक फिर जब किसी ने कुछ नहीं कहा, तो राधाकान्त मौन भंग करते हुए बोले—'आज अम्मा' वगैरह आने को कहती थीं। परन्तु फिर जब तक मैं तैयार हुआ, तब तक शाम हो गई। तब उनका विचार बदल गया। बोलीं—अब आज तो शाम हो गई, कितनी देर बैठ पाऊँगी ! अब फिर किसी दिन ले चलना। देखो हो सका, तो कल लिवा लाऊँगा।'

'अच्छा तो अम्मा आयेंगी !' आश्चर्य के साथ तारिणी ने पूछा।

'अवश्य' कहकर राधा बाबू उठने लगे, तो तारिणी बोली—'जरा ठहरिये। कुछ खा लीजिये, तब जाइये।'

राधा बाबू ने जूते पहनने के लिए आगे बढ़ते हुए कहा—'घर से खाना खाकर चला था। इसलिए इस समय कुछ खा न सकूँगा।'

तारिणी बोली—'तो पान ही खाते जाइये।......बिट्टी दो बीड़े पान तो लगा देना भैया जी को।'

राधा बाबू बोले—'पहले एक गिलास में पानी तो देना।'

मल्लिका ने गिलास में पानी लाकर वहीं रख दिया।

राधा बाबू ने जरा हटकर, एक ओर, मुँह धोकर तौलिया से पोंछ लिया। तदन्तर मल्लिका दो बीड़े पान तथा कुछ इलायची तश्तरी में लाकर राधा बाबू के सामने उपस्थित हो गई।

राधा बाबू ने पान इलायची उठाते हुए एक बार चश्मे के भीतर से ही ऊपर की ओर दृष्टि डालकर उसकी ओर देखा। देखा—वे चंचल

लोचन एकदम से प्रशान्त हैं, उनकी लालसा-वल्लरी मूक बन गई है। तब उसके भीतर के शैतान को एक धक्का-सा लगा। परन्तु फिर तत्काल एक संतोष की साँस लेकर सीढ़ियाँ उतर कर द्वार आते-आते वह मन-ही-मन सोचने लगा—'चिन्ता की कोई बात नहीं है। आशावादी का हर प्रातःकाल एक नया जीवन लेकर आता है।'

१३

संसार अपनी गति से चल रहा था। लोचन बाबू अब स्थायी रूप से सपरिवार कानपुर में ही रहने लगे थे। तारिणी ने पहले जिस समय उनको अपने यहाँ रखना चाहा था, उस समय उसका विचार यही था कि वह यहाँ अकेला ही रहेगा। लोचन बाबू की देवी जी, आई भी केवल दस-पाँच दिन के ही लिए थीं। परन्तु जब उन्हें यहाँ अच्छा लगने लगा, तब उन्होंने सोचा—'अब देहात में कौन जाय। यहाँ का जैसा अच्छा खाना-पहनना वहाँ कहाँ रक्खा है। फिर जब जीजी—उसकी ननद—उसको यहाँ रखना ही चाहती हैं, तो मेरा साथ रहना भी कम जरूरी नहीं है। वह साथ न देगी, तो इस घर का काम कौन करेगा? पहले की अपेक्षा खर्च में किफायत भी तो हो गई है। पहले दीनू नौकर रहता था। अब वह हटा दिया गया है। पहले झाड़ू-बुहारी तथा चौका-बर्तन के लिए कहारिन रहती थी, अब उसकी भी जरूरत नहीं रह गई है। यह सब काम मैं कर ही लेती हूँ। ऐसी दशा में अगर मैं यहाँ बनी ही रहूँ, तो किसमें दम है जो मुझे निकाल सके।' इस प्रकार लोचन बाबू की गृहिणी ने यहीं रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

इन देवी जी का नाम था कला। गेहुँए रंग, एकहरे शरीर, और बाइस वर्ष की उम्र। पढ़ी-लिखी साधारण, बातों में बड़ी चतुर और हिसाब-किताब में बड़ी प्रवीण। आते-ही-आते इन्होंने इस घर में अपना

अस्तित्व जमा लिया। शान्ति-संस्कार समाप्त हो जाने के बाद महरी को उन्हीं ने निकलवाया। पहले शिकायत की कि बर्तन ठीक तरह से नहीं मलती—'दो-एकबार बर्तनों में चिपका चावल और दाल का अंश भी लगा हुआ दिखला दिया। फल यह हुआ उस पर डाँट पड़ी। लेकिन वह थी बेचारी समय को देख कर चलने वाली, ताव पर नहीं चढ़ी, सब सहन करती गई। अन्त में कला को तारिणी से कहना पड़ा—'इसकी जरूरत ही क्या है, मैं आखिर किसलिए हूँ ? यह शरीर बना किसलिए है ? मेहनत का काम न करूँगी तो मुझे खाना भी तो हजम न होगा, आलसी हो जाऊँगी, सो अलग। न जीजी, मुझसे यह न होगा। इसको निकालो जल्दी। बड़े लोगों के यहाँ भी ये काम घर की बहू-बेटियाँ करती हैं। मैं अगर शहर में अपने घर का काम खुद कर लूँगी, तो मेरी जाति न घट जायगी। मैं यह सब बहुत सोच-समझ कर कह रही हूँ, जीजी। यह न समझना कि तुमको किसी तरह की कुछ तकलीफ होगी। कभी जो एक लोटा तक धोने दूँ तो कहना ! काम ही कितना है ! जो होगा भी, वह सब मैं आनन-फानन निपटा लूँगी।'

इस प्रकार विवश होकर तारिणी को भी कला का कहना मानना पड़ा।

रात के ग्यारह बजे हैं। लोचन बाबू बीच के खंड में, एक कमरे में, सपत्नीक लेटे हुए हैं। दो-चार बूँदें पड़ीं, बिछा-बिछाया बिस्तर तिखंडे पर से उतार कर नीचे लाना पड़ा। अन्त में यही तै पाया कि आज की रात अब यहीं, इसी कमरे में व्यतीत की जाय।

कला कह रही थी—'अब महीना भी खतम हो गया। आज सात तारीख हैं, सात दिन और चले। किराया जो कुछ वसूल होना था, हो चुका। महीने में इकट्ठा गृहस्थी के लिए जो सामान आता है, सो भी सब आ चुका। अब लाओ, दो न ?'

जब लोचन बाबू कुछ न बोले, तो कला ने कहा—'मैं जो कुछ कहती हूँ, उसमें निरे दाने ही दाने हैं, भूसी जरा भी नहीं है। इस उमर में अगर कुछ रुपया न बचा सके, तो फिर जब बुढ़ापा आयेगा, तब बैठकर टिहुनी पर सिर रखकर रोओगे ! खाँसी, दमा, सिर दर्द, कमजोरी, गठिया-बात आदि रोग क्रम-क्रम से आकर घेर लेंगे, तब कोई डली भर गुड़ के लिये भी न पूछेगा। अभी तुमको मेरा कहना बुरा लगता है। इतना मैं भी जानती हूँ कि धर्म-कर्म दुनियाँ में एक चीज है। वही साथ जाता है। परन्तु सोच देखो—बिना पैसा के आज धर्म भी नहीं होता। जिस झूठ बोलने और काट-कपट से तुम इतना डरते हो, मैं उसी की बात तुमसे कहती हूँ। झूठ और बेईमानी किस जगह, कहाँ नहीं चलती ? बजाज के यहाँ कपड़ा खरीदने जाओ, तो जिस कपड़े को वह डेढ़ रुपये गज देने को कहेगा, उसका खरीदा हुआ वही कपड़ा बीस आने गज के भाव से अधिक का न होगा। परन्तु अगर उससे कहो कि आपकी खरीद का भाव तो बीस आने गज का ही है, आप हमसे इक्कीस आने गज के दाम लगा लीजिये, तो वह यही जवाब देगा कि नहीं बाबूजी, ऐसा भी कहीं हो सकता है ! इतना लाभ अब कहाँ रह गया है ! ऐसा होने लगे तो सोने की दीवारें उठा लें। पचास हजार रुपया फँसाये बैठे हैं, पर आज दूकान का खर्चा तक मुश्किल से निकलता है ! आपसे झूठ बोल कर हम जायँगे कहाँ ! और झूठ एक रोज चला भी लें, पर रोज-रोज थोड़े ही चल सकती है। आपकी दूकान आज की नहीं है, तीन साखें हो गईं। एक युग बीत गया इसी दुकान पर बैठते हुए। जो गाहक एक बार कपड़ा ले गया, वह फिर दूसरी जगह झाँकने को नहीं गया। बात यह है कि हमारे यहाँ दगा का सौदा नहीं है। अभी-अभी जो महाशय यहाँ बैठे थे, आपने देखा न, जो अभी चार जोड़े धोती ले गये हैं, छत्तीस वर्ष से तो मैं खुद इनको कपड़ा दे रहा हूँ। इतनी बातों को सुनकर गाहक में इतना दम नहीं रह जाता कि वह उसकी बात पर विश्वास न कर ले। परन्तु

बजाज ने इतनी बातों में कितनी बातें सच कहीं, पता लगाओ, तो मालूम होगा कि एक भी नहीं।······अरे, सुनते हो कि सो गये?'

लोचन बाबू धीरे से बोले—'सुनता हूँ।'

सावधानी के साथ अपनी बात पूरी करती हुई कला बोली—'तो कुछ समझ में आया?'

अब उठकर बैठते हुए लोचन बाबू बोले—'तुमने जो कुछ कहा, उसमें मेरे लिए कोई भी ऐसी बात न थी जिसे मैं नई कह सकूँ। तुम अपने को बहुत समझदार लगाती हो। और तुम्हारा ख्याल है कि मैं बेवकूफ हूँ। परन्तु अगर तुममें मेरे विचारों और भावों को समझने की शक्ति होती, तो तुम जान सकतीं कि मैं क्या हूँ! दुनियाँ बुरे पथ पर हो—एक छोर से दूसरे छोर तक उसमें बेईमानी का ही डंका पिटता हो और वे पाप-कुंड के कीड़े अपने आपको बहुत सुखी, संतुष्ट और सम्पन्न लगाते रहें, तो भी मैं उन्हें महापतित और गुबरैला कीड़ा ही समझूँगा। बुराई सदा बुराई ही कहलायेगी, और सचाई और ईमानदारी सदा जीवित रहेगी। दुनिया में चोरों और ठगों का ही राज्य हो जाय, तो भी सचाई कभी मर नहीं सकती। परिश्रम, सदुद्योग, दूरदर्शिता और किफायतशारी से अगर दो पैसे बच जायेंगे, तो अन्तिम समय वे मेरी हड्डियों को जलाने भर को काफी होंगे। मेरी आत्मा उससे चरम शान्ति प्राप्त करेगी। अब रह गई तुम्हारी और सन्तान की बात, सो तुमको भी अगर मेरी जात से सुख-सौभाग्य प्राप्त करना बदा होगा, तो वह तुम्हें मिल कर रहेगा, कोई भी उसे छीन न सकेगा। और संतान? संतान अगर मुझसे पैदा होगी, तो वह मेरे बतलाये मार्ग पर जरूर चलेगी। नहीं तो जैसा करेगी, वैसा भोगेगी। अपनी समझ और सद्ज्ञान की ये बातें अपने ही पास रक्खा करो देवी जी, तो अधिक उत्तम होगा। मेरे ऊपर दया रक्खा करो जरा। मैं बहुत गरीब आदमी जरूर हूँ, लेकिन भगवान् ने मुझे भी दुनियाँ की मति-गति को समझ सकने भर की बुद्धि दी ही है। कहाँ क्या होता है,

इसे देखने को मेरे भी दो आँखें हैं। इतना मैं भी जानता हूँ कि गिलहरी किस वक्त धूप लेकर प्रसन्न होती है!'

अब तो कला ताल ठोंक कर दंगल में कूद पड़ी। वह बोली—'आज मालूम हुआ कि ऊपर से ही देखने में तुम इतने मीठे मालूम पड़ते हो, पर तुम्हारे भीतर कम कड़ुवाहट नहीं है। मुझे कुत्ते ने काटा है, जो मैं इस तरह की बातें करती हूँ! कोई सुने तो क्या कहे! मैं यह थोड़े कहती हूँ कि तुम चोरी करो, रुपया लाओ और मुझे गहना गढ़ाओ। मैं तो इतना ही कहती हूँ कि भविष्य को सोचकर ऐसा कुछ करो, जिसमें बुढ़ापे में कष्ट न पाओ और सन्तान भी सुख से रह सके। मेरा कहना अगर बुरा लगता है, तो मैं आज से कुछ न कहूँगी। एक समय आयेगा, जब मेरी इन बातों के लिए सोचोगे, परन्तु तब वह सोचना बेकार होगा। जब लोगों के बच्चों को सजे-बजे देखती हूँ, तब लल्लू को भी उसी रूप में देखने की हौंस जग उठती है। इसीलिए चाहती थी कि उसके हाथों के लिए सोने के कड़े अगर बन जाते, तो मेरी यह एक छोटी-सी इच्छा पूरी हो जाती। पर तुम्हारी समझ ही और किस्म की है। मैं लाख कहूँ, मेरे कहने का तुम पर कोई असर ही नहीं होता!'

लोचन बाबू ने समाधान के स्वर में कहा—'इन बातों को मैं क्या समझता नहीं हूँ! पर माता के मन में साध नहीं होती, पिता भी कुछ हौसले रखता है। मुझे तो तुम्हारे सोचने के ढंग पर ही आपत्ति है। तुम कहती हो कि दूसरे लड़कों को देखकर मेरे मन में भी अपने बच्चे को वैसा बनाने की इच्छा हो आती है। परन्तु मैं समझता हूँ कि इस तरह सोचना निरा पागलपन है। यह तो संसार है। यहाँ पर एक से एक बढ़कर सुन्दर और प्यारी वस्तुएँ भरी पड़ी हैं। अगर हम सोचने लगें कि ये सब हमको मिल जायँ, तो क्या ऐसा सम्भव हो सकता है? सब अपने कर्म का फल पाते हैं। भाग्य और संयोग भी कर्म-फल ही है। हर एक आदमी अगर राजा होने लगे, तो फिर प्रजा कौन कहलायेगा और वह

राजा होगा किस प्रजा का ? हम बहुत दूर की, बहुत ऊँची, ऐसी आशा ही अपने हृदय में क्यों पालें, जिसकी पूर्ति न होने पर हमें दुःखी होने की नौबत आये। हम उतना ही क्यों न सोचें, जितना कर सकें। धैर्य रखने से सब कुछ हो सकता है। पर जो कहो कि आज ही हो जाय, तो ऐसा न कभी हुआ है, न कभी हो सकता है।'

पति-पत्नी में ये बातें बड़ी देर तक चलती रहीं। अन्त में लोचन बाबू को तो नींद आ गयी; पर कला बड़ी देर तक जागती रही। सोचते-सोचते जब वह अधीर हो उठती, तो एक सुदीर्घ शीतल निश्वास लेकर करवटें बदल लेती।

महत्वाकांक्षा का यह कैसा उद्दाम रूप है! इच्छाओं में नियन्त्रण नहीं, विवेक नहीं, न्याय-दृष्टि नहीं, मुक्ति नहीं। तो भी उसकी स्थिति है, गति है। मनुष्य के भीतर की यह आँधी क्या कभी शान्त ही न होगी? क्या हमारे जीवन से सन्तोष की तरल भावना लुप्त ही होती जायगी? क्या अतृप्ति और तृष्णा का संतोष और शान्ति के साथ यह संघर्ष निरन्तर चलता रहेगा? क्या इनमें कहीं भी कोई विराम नहीं होगा?

१४

मीरा बोली—'अम्मा, रमा बाबू की दुलहिन को देखकर मैं तो बड़ी दुःखी हुई। कैसा मोहक रूप, सुगठित शरीर, मीठा स्वर और स्वभाव भी कैसी सरल! परन्तु बेचारी दुखिया हो गई। एक तो सन्तान नहीं हुई, दूसरे सुहाग भी लुट गया। भगवान की यह कैसी लीला है अम्मा, कि उसने उसे और तो सब कुछ दिया, परन्तु जीवन का जो असली सुख कहलाता है, वह नहीं दिया। जब कभी उनकी चर्चा चलती है, तो कैसी फूट-फूट कर रोने लगती है। बातें करते-करते उस दिन कहने लगी—'हाय उन्होंने मुझे एक बार डांटा तक नहीं, कभी कोई कड़ी बात (मेरे लिए)

मुँह से नहीं निकाली। मेरी इच्छा जिस-जिस चीज़ की, जब-जब देखी, तब-तब बिना कहे वे चीजें लाते रहे। अब उन्हीं चीज़ों को देखती हूँ, तो कलेजा जलने लगता है। एक दिन जिने उसे ऐसा प्यार दिया, एक, तो उसने और कुछ न दिया। फिर जो कुछ दिया भी तो उसको भी छीन लिया! कितनी सयानी ननंद ब्याहने को बैठी है! इतनी सयानी लड़की को कुमारी रूप में देख कर न जाने कैसा जी होने लगता है!

उमा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'परन्तु जीजी वह दो-चार दिन में तो इतनी सयानी हो नहीं गई। ब्याह के लायक तो, सच पूछो, वह दो वर्ष पहले ही हो गई होगी। कैसे रमा बाबू थे, जिन्होंने अब तक उसका ब्याह नहीं किया!

भावुक मीरा झट से कह उठी—उनके लिए अब कुछ मत कहो भाभी। वे कितने बड़े आदमी थे, उनके कितने उच्च विचार थे, तुम नहीं जानतीं। वे बने होते तो चिन्ता ही किस बात की थी। बड़े आदमियों के घरों में लड़कियों का विवाह अब ऐसी ही सयानी हो जाने पर किया जाने लगा है। सच पूछो, तो जब वे नहीं रहे, तभी से इस ओर हम लोगों का अधिक ध्यान जाने लगा है। उनकी दुलहिन ने बतलाया न था कि वे दो महीने लगातार लड़के की खोज में घूमते रहे थे। कई लड़के उन्होंने पसन्द किये थे, किसी-न-किसी को तै करने ही वाले थे कि चल बसे। इसमें उनका दोष ज़रा भी नहीं है।'

उमा बोली—'तब फिर जिन लड़कों को उन्होंने देखा था और जिनके लिए सम्भव है, उन्होंने बातचीत की हो, उन्हीं में से किसी को क्यों नहीं तै कर लिया जाता'

मीरा ने पान लगाते हुए कहा—'अब उनका भाई रहने लगा है, वही सब तै करेगा। करेगा नहीं तो काम कैसे चलेगा। सयानी लड़की कुमारी तो बैठी नहीं रहेगी।'

तारा अब तक खेल रही थी। अब वह भी आकर उमा की गोद में जा कर बैठ गई और बोली—'अम्मा दुद्धू।' और इसके बाद औत्सुक्य में डूबकर उसने ऐसा मुँह बना लिया कि मीरा को वह बहुत मनोहर प्रतीत हुआ। वह भी मुँह बनाकर बोली—'तारा पगली।'

तारा दो-चार घूँट दूध पीकर, माँ की धोती के आवरण से मुँह बाहर निकाल कर कहने लगी—'तालो ताये पदली—बुआ पदली!'

और यह बात उसकी माँ और बुआने तो सुनी ही, कुछ फ़ासले पर बैठी हुई उसकी दादी ने भी सुनी। तब हँसी का एक ऐसा कोलाहल उस घर में गूँज गया कि सब-की-सब लोट-पोट हो गईं।

दादी बोली—'मेरी तारा को पगली काहे को कहती है मीरा, वह तो रानी बिट्टी है। आ जा, मेरी रानी बिट्टी।'

अब तारा माँ की गोद से उठ कर दादी की गोद में जा बिराजी। बढ़ी, पीपले मुँह की, सफेद-सफेद बालों की दादी ने उसकी दोनों हथेलियों की चुम्मी ली, उसके सिर को सुहलाया, उसे अपने वक्ष से चिपकाया। फिर वह बोली—'मेरी तारा को कोई पगली मत कहा करो।'

तम्बाकू की चुटकी मुँह में धरती हुई मीरा बोली—'जब तक तारा गैया दूद्धू नहीं पियेगी, अपनी अम्मा को ही परेशान करती रहेगी, तब तक मैं तो उसे पगली ही कहूँगी।'

दादी ने समर्थन को आगे बढ़ाते हुए कहा—'मेरी रानी बिट्टी अब से गैया दूद्धू पियेगी, क्यों तारा? अम्मा दुद्धू बुरी—मैला और गैया दुद्धू नीकी सी, मीठी सी। मेरी तारा, अब से गैया दुद्धू पियेगी।'

इतने में तारा बोल उठी—'दादी, गैया दुद्धू मीथा?' आँखें फैलाकर, भौंह तानकर, सिर हिलाकर फिर दुहराने लगी—'मीथा दादी?' पुलकित दादी बोली—'हाँ, तारा, गैया दुद्धू मीठी।'

तब तारा बोली—'दादी अम गैया दुद्धू पियेंदे।'

सफल-गद्गद् दादी ने कहा—'ला तो मीरा, तारा को गैया दुद्धू। मेरी रानी बिट्टी गैया दुद्धू पियेगी।'

मीरा गाय के दूध में थोड़ी-सी चीनी मिलाकर गड़ुइया में ले आई। दादी ने उसकी टोंटी तारा के मुँह से लगा दी। तारा ने दो घूँट पिये, और पीते हुए वह दादी की ओर आँखें उठाकर देखने लगी। उससे बिना अपना अनुभव बतलाये रहा नहीं गया बोली—दादी, गैया दुद्धू मीथी!'

मीरा बोली—अब तारा पगली नहीं रही। अब वह रानी बिट्टी हो गई।'

तारा जरा-सी किलक कर, मुँह बनाकर, दूध की गड़ुइया मुँह से हटा-कर कहने लगी—'दादी, अम लानी।'

एक बार फिर उस घर के कोने-कोने में आनन्द का कोलाहल गूँज उठा। अत्यधिक आह्लाद के कारण दादी की आँखों में आनन्दाश्रु आ गये। मीरा ने उसे गोद में भर कर, उसकी चुम्मी ली, फिर उसकी पीठ, उसका सिर थप-थपाती हुई कहने लगी—'तारो रानी, मेरी तारो रानी।'

उमा यह सब कौतुक देख-देखकर आनन्द के अगाध जल में डुबकी लगाती रही। नारी-जीवन का यही सबसे बड़ा सुख है। अपनी साधारण दशा में वह इसका अनुभव भले ही न करे; परन्तु आनन्द की जिस उच्चता का उद्भव वात्सल्य रस के इस अकृत्रिम उद्रेक में होता है, वह अत्यन्त दुर्लभ है! क्योंकि श्रेष्ठ आनन्द वह है, जिसका प्रभाव अलौकिक होता है।

१५

दूसरों के सुख में अपना दुःख भूल जाना बड़ा कठिन होता है। लेकिन तारिणी में यह एक बड़ा गुण था। वकील साहब के घर बैठी हुई

वह सखी सरोजिनी के आगे बिहँस कर कह रही थी—'गुइयाँ अब कब तक आनन्द-बधाइयाँ बजने का दिन आयेगा ?'

सरोजिनी पहले तो शरमा-सी गई, फिर बोली—'मैं क्या बताऊँ जीजी, भगवान जाने कब उद्धार होऊँगी। मैं तो खुद ही परेशान हूँ, चाहती हूँ, जल्दी-से-जल्दी जो कुछ भी होने का हो, वह हो जाय।'

मल्लिका कहने लगी—'अच्छा भाभी, अगर भतीजा हुआ, तब तुम आँख-अँजाई में मुझे क्या दोगी ?'

मुसकराती हुई सरोजिनी ने उत्तर दिया—'जो तू माँगेगी और जो मेरी सामर्थ्य के अनुसार होगा।'

मल्लिका—'अर्थात् ?'

सरोजिनी बोली—'अब अर्थ भी बताना पड़ेगा क्या ?'

क्यों नहीं ? मल्लिका ने कह दिया।

सरोजिनी को विनोद सूझ गया। बोली—'हाथी, घोड़े, ऊँट ! फिर जो तुम और माँगे।'

मल्लिका पहले हँस रही थी, अब शरमा गई और सम्हलकर बोली—'भाभी, तुम भी मुझसे ठठोली करती हो !'

सरोजिनी ने कहा—'क्यों, इसमें ठठोली क्या है ? हाथी-घोड़े क्या नेग में दिये नहीं जाते और क्या ननदें उन्हें देती नहीं ? बाँधकर चराने का दम होना चाहिये।'

मल्लिका उपालम्भ के स्वर में बोली—'जाओ देख लिया तुम्हारा प्यार ! यह भी कोई विनोद है, जो एक को अच्छा लगे दूसरे को बुरा !'

'इसमें बुरा लगने की तो कोई बात है नहीं मल्लिका रानी !' सरोजिनी ने उत्तर दिया।

'देखो, फिर तुमने शैतानी की।' कहकर मल्लिका गंभीर होकर बोली—'मेरा आना अच्छा न लगता हो, तो मैं चली जाऊँ।'

और कोई होता, तो सरोजिनी बुरा मान जाती; पर उसने मल्लिका के इस उत्तर पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। ढिठाई के स्वर में वह बोली—'लेकिन जाओगी कैसे ? उनके कचहरी से लौटने का यही समय है। दरवाजे पर ही अगर आते हुए मिल गये, तो रोक लेंगे तुमको।'

'जाओ, मैं तुमसे अब बोलूँगी ही नहीं।' मल्लिका ने कृत्रिमता से मुँह लटका कर कहा। तब तो सरोजिनी खिलखिला कर हँस पड़ी। बोली—'अरे वाह ! यह मानिनी राधा का अभिनय तुमने खूब दिखलाया। गुइयाँ तुमने भी देखा कि नहीं ?'

'सब देखती हूँ।' कहते-कहते तारिणी ने मुँह फेर लिया।

'इसके लिए कहीं ठीक हुआ या नहीं ? अब यही ठीक-ठाक करने का समय है।'

तारिणी ने एक ठंढी साँस लेकर कहा—'अभी तक तो कहीं ठीक नहीं हुआ; छोटे भैया कोशिश कर रहे हैं। तीन हजार से कम में तय होने की आशा नहीं है।'

चिन्तामय विस्मय से सरोजिनी बोली—'लेकिन इतना आयेगा कहाँ से ?'

तारिणी बोली—'आयेगा कहीं से नहीं; एक मकान रेहन रखना पड़ेगा।

सरोजिनी सुनकर एकाएक अवसन्न हो गयी। फिर एकदम से उत्तप्त होकर बोली—'जिस जाति का नाश होने को है, उसे बचा कौन सकता है। जब उसे नष्ट होना ही है, तो जितनी जल्दी हो जाय, उतना ही अच्छा। आज मैं उनसे कहूँगी। कहूँगी नहीं, झगड़ा करूँगी। क्या उनके दोस्तों में कोई भी ऐसा नहीं है जो फूलों के इस गुच्छे को प्रेम के साथ अपनाने को तैयार हो सके ? क्या भारत में कोई भी ऐसा सहृदय काव्य-कुञ्ज कुमार रह ही नहीं गया, जो निस्वार्थभाव से एक कलिका को ग्रहण करने के लिए तत्पर हो सके ? दहेज की कुप्रथा पर आँसू बहाने वाले

वे पग्गधारी महज्जन क्या मर गये, जो महासभा की वार्षिक बैठकों में प्रति वर्ष अपनी प्रतिज्ञाओं को प्रस्तावों द्वारा दोहराते नहीं लजाते !'

इतने में बाहरी कमरे के खुलने का शब्द हुआ। सरोजिनी बोली—जान पड़ता है, वे आ गये।'

तारिणी कुछ संकुचित-सी हो उठी। और मल्लिका बोली—'भाभी, अब चलो चलें।'

सरोजिनी बोली—'जरा देर और बैठो। फिर चली जाना। एक तो आती ही बहुत कम हो। फिर कभी कृपा भी की, तो घोड़े पर सवार होकर आयीं। और जो कहो कि वे आ गये, सो डरो नहीं, वे इधर नहीं आयेंगे। स्त्रियों के बीच जाने में उनको स्वयं बड़ा सङ्कोच रहता है।'

वकील साहब यद्यपि रमाबाबू के मिलने वालों में प्रमुख व्यक्ति थे। तथापि रमाबाबू के घर उनका आना-जाना कम होता था। इसका कारण और कुछ नहीं, वकील साहब का समयाभाव था। परन्तु दोनों परिवारों की स्त्रियों का आवागमन बराबर चलता था।

उठती हुई तारिणी बोली—'अब चलूँगी। छोटी भाभी अकेली ही हैं। हालाँकि वे रसोई का सब काम खुद ही कर लेती हैं, फिर भी मुझे उनकी मदद तो करनी ही पड़ती है।····· फिर जल्दी ही किसी दिन जाऊँगी, क्योंकि तुम तो आजकल जाने से रहीं।'

अन्तिम वाक्य के रहस्य का अनुभव कर तारिणी और सरोजिनी, दोनो, मुस्करा दीं। मल्लिका ने सिर नीचा कर लिया। सरोजिनी ने नौकरानी को तारिणी के साथ कर दिया। मल्लिका आगे चली, तारिणी पीछे और उसके पीछे नौकरानी।

तारिणी चली तो जा रही थी, लेकिन आज उसके अन्तर में ज्वालामुखी-सा सुलग रहा था। वैधव्य जीवन की कठोर साधना का नग्न रूप उसकी अन्तर्दृष्टि के सामने जाता। फिर आता और चला जाता। वह

सोचने लगी—'आज सरोजिनी कितनी सौभाग्यशालिनी है। घर में सब कुछ, और उसका अपना सब कुछ, और मैं······?'

तारिणी के नयन सजल हो आये।

१६

जीवन के बहुतेरे पाप केवल आरोपित होते हैं, प्रायः लोग केवल कल्पना से उनका अनुमान कर लेते हैं। यह ठीक है कि उस कल्पना में उनका निजी अनुभव रहता है। किन्तु मानव-प्रकृति सर्वत्र एक-सी नहीं होती। कला ने मल्लिका को समझने में यही भूल की थी।

सरोजिनी के घर पुत्रोत्सव था। तारिणी वहीं गयी हुई थी। मल्लिका और कला ही घर में रह गयी थीं। वैसे मल्लिका भी जाने वाली थीं, किन्तु आज उसके सिर में दर्द था, जुकाम के कारण बदन भर में पीड़ा और कुछ-कुछ हल्का ज्वर भी था। इसी कारण वह घर पर रह गयी थी।

क्वाँर का महीना था, दशहरे का दिन और संध्या के पाँच बजने का समय। कला अपने बच्चे के साथ भीतरी कमरे में लेटी हुई थी। बच्चा सो रहा था। दशहरे के कारण आज उसे विशेष प्रकार की खाद्य सामग्री बनाने में देर हो गयी थी। फिर खाना-पीना हुआ और तुरन्त ही उसे बर्तन भी मलने पड़े। इस प्रकार वह कुछ थक-सी गयी थी। इसलिए इस समय उसे एक झपकी-सी लग गयी थी।

मल्लिका सड़क की ओर के ऊपर के कमरे में लेटी हुई एक कविता-पुस्तक पढ़ रही थी। इसी समय राधाकान्त ने आकर द्वार की साँकल खटखटायी। पलँग से उठ कर दूसरे खण्ड की ओर झाँककर उसने देखा—भाभी नहीं उठीं। तब उसने पुकार कर कहा—'भाभी, भाभी!' लेकिन

तब भी भाभी नहीं उठीं। और भाभी उठती भी, तो द्वार पर जाकर भीतर की सांकल खोलने कभी न जातीं। ऐसी बात न थी कि उसने कभी इस काम से इनकार किया हो। परन्तु यह समझ कर कि वह इस घर की बहू है, उससे यह काम ही कभी नहीं लिया जाता था। अतएव मल्लिका स्वयं ही नीचे उतर कर साँकल खोलने चली गई। पहले एक बार उसके मन में आया कि वह ऊपर से ही कह दे—'भाभी घर में नहीं हैं। परन्तु यह सोचकर कि शायद कोई आवश्यक काम हो, उसने नीचे जाकर साँकल खोल देना ही उचित समझा। वह नीचे जा तो रही थी, पर उसके भीतर एक द्वन्द्व चल रहा था। कभी सोचती—नीचे जा तो रही हूँ, लेकिन......। कभी सोचती—उँह, जाने में हर्ज ही क्या है! किन्तु उसके भीतर का द्वन्द्व क्षण भर के बाद ही द्वार पर जाकर स्थिर हो गया। मल्लिका वहाँ पहुँच गई। उसने यह स्थिर कर लिया कि द्वार के कपाट जरा से ही खोलकर वह कह देगी—'भाभी वकील साहब के पुत्रोत्सव में गयी हैं।' उसने ऐसा ही किया भी। किन्तु फिर भी राधाकान्त जब भीतर की ओर बढ़ने लगे, तब मल्लिका से यह कहते न बना कि आप उनकी उपस्थिति में आइयेगा। शील के कारण उसका वह दृढ़ संकल्प जाने कहाँ चला गया। वह एकदम से पीछे हट गयी।

राधाकान्त बोले—'भीतर न जाकर बाहरी बैठक में बैठता हूँ।' और घर के भीतर से जुड़े हुए बाहरी बैठक के दरवाजे को खोलकर वे कमरे के भीतर आ गये। फिर इस कमरे के भी दो दरवाजे झट से खोलकर उन्होंने चिक के परदे गिरा दिये। यह सब उन्होंने इतनी जल्दी कर डाला कि मल्लिका कुछ कह ही न सकी।

जब राधाकान्त बोले—'तुम भी एक कुरसी लेकर यहीं बैठ जाओ। इस समय मुझे तुमसे कुछ जरूरी बातें करनी हैं।

मल्लिका ने फर्श की ओर दृष्टि गड़ाकर कहा—'आपको जो कुछ

भी कहना हो, उसे बहुत संक्षेप में कह डालिये। मैं यहाँ अधिक देर तक ठहर न सकूँगी।'

राधाकान्त बोले—'संक्षेप में ही कहूँगा। लेकिन पहले तुम्हारी अनुमति ले लेना चाहता हूँ। बात ऐसी नहीं है कि उसे एक क्षण में समझा सकूँ।'

अब मल्लिका ने राधाकान्त की ओर देखा और राधाकान्त ने मल्लिका की ओर।

मल्लिका ने देखा, राधाकान्त की आँखों में लालसा की आँधी-सी आई हुई है; उन्माद उसके शब्द-कम्प से स्पष्ट झलकता है। यह सब अनुभव कर वह एक बार काँप उठी। एक बार उसके जी में आया, वह कह दे……'कृपा करके आप इस समय यहाँ से चले जाइये।' परन्तु बड़े भाई के साथ उनका जो सम्बन्ध था, उसको स्मरण कर वह ऐसा कह न सकी और इसी समय राधाकान्त के मुँह से निकल गया……'मल्लिका।'

मल्लिका ने इसके उत्तर में कुछ नहीं कहा, वह भीतर भी नहीं गयी। दरवाजे के किवाड़ का आधार टेके वह मूर्तिवत् खड़ी रह गयी।

इस अवसर पर राधाकान्त ने यह अनुभव किया कि यद्यपि मल्लिका वय, अनुभव और शिक्षा में मुझसे निम्न कोटि की है, तथापि उसका नारीत्व कितना सबल है और उसकी यह स्थिरता कैसी बौद्धिक है! वह सब कुछ समझती हुई भी मुझे खिलौने की तरह खेला रही है।

और तब बहुत ही दृढ़ गम्भीर होकर राधाकान्त ने कहा—'मल्लिका मैं पशु नहीं हूँ। मैं भी आखिर मनुष्य ही हूँ। मेरे भी हृदय है…… मनोभावों को मैं भी समझता हूँ। फिर भी स्पष्ट रूप से मैं यह जान लेना चाहता हूँ कि क्या-क्या मैं तुमसे मानवोचित व्यवहार पाने का भी अधिकार नहीं रखता।' फिर कुछ क्षण रुककर उत्तर न पाकर बोला……

'मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुम मेरे इस प्रश्न पर भी चुप हो। यद्यपि इसका कारण मैं समझ सकता हूँ; फिर भी तुम्हारे मुँह से ही मैं इसका उत्तर चाहता हूँ।'

कई मिनट बीत गये, किसी ने कुछ नहीं कहा। अब राधाकान्त और अधिक ठहर नहीं सके। बोले—'अधिक नहीं, मैं केवल इतना जान लेना चाहता हूँ कि क्या सचमुच तुम मुझसे घृणा करती हो?'

अब मल्लिका ने मौन भंग करते हुए कहा—'किसी से घृणा या प्रेम करने का, इस अवस्था में, मुझे अधिकार ही क्या है?'

राधाकान्त एक बार हँस उठे, पर फिर गम्भीर होकर बोले—'तुम्हारे भीतर यह कितना बड़ा भ्रम समाया हुआ है मल्लिका? क्या इक बार तुमने कभी यह भी विचार करके देखा है कि वास्तव में अधिकार है क्या वस्तु? एक समय था, जब मनुष्य के अधिकार सचमुच बहुत सीमित समझे जाते थे। वह समय लद गया। संसार बदल गया और उसके साथ-ही-साथ मनुष्य की इच्छा-शक्ति का क्षेत्र भी असीम हो गया। तब अधिकारों की एक मर्यादा होती थी। अब मर्यादित अधिकार माननेवाले व्यक्ति दुनियाँ में सबसे अधिक पिछड़े हुए......एकदम जंगली समझे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों और समुदायों पर आज सभ्यजगत हँसता है! आज तो इच्छाशक्ति के क्रियात्मक रूप से ही अधिकार का रूप स्थिर किया जाता है।'

मल्लिका ने अब कुरसी ग्रहण कर ली। एक बार ललाट उन्नत कर राधाकान्त की ओर तीव्र दृष्टि से देखती हुई वह बोली—'राधे बाबू, मैं आपका बड़ा आदर करती आई हूँ। इसलिए नहीं कि आप बहुत अधिक रूपवान् हैं, इसलिए भी नहीं कि आप शिक्षा-दीक्षा में मुझसे बहुत आगे हैं वरन् इसलिए कि आप मेरे बड़े भाई के अन्तरंग मित्रों में से हैं। और इसलिए भी कि मैं आपमें ऐसी अनेक बातें पाती थी, जो इस युग के एक शिक्षित सभ्य पुरुष में होनी चाहिये। लेकिन आज मुझे आपकी

रूप-रेखा देखकर बड़ा दुःख हुआ। आपको कम-से कम इस बात का तो ध्यान रखना चाहिये था कि मैं इस समय यहाँ अकेली हूँ। भाभी वकील साहब के घर गई हैं, और छोटी भाभी सो रही हैं। यदि इन लोगों या पास-पड़ोस के लोगों में से कोई भी यह देख ले कि मैं आपसे एकान्त में बात कर रही हूँ, तो उसका क्या परिणाम हो, कम-से-कम आपको इतना तो सोच ही लेना चाहिये था। फिर मान लीजिये, कोई न भी देखे, स्वयं मेरा आपसे एकान्त में बातें करना कहाँ तक उचित है? और अब क्या यह भी मेरे ही बतलाने का विषय है कि यदि यह मेरे लिए अनुचित है, तो क्षमा कीजियेगा अनुचित आपके लिए भी है। मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि आपने इस समय जो विवाद की बात छेड़ दी है, मैं उससे अपना पिंड छुड़ाना चाहती हूँ। जिस समय भाभी उपस्थित हों; आप जब चाहें तब इस विषय में खुले तौर पर विवाद कर सकते हैं; परन्तु इस समय और अधिक न ठहरने के लिए मैं विवश हूँ! यों भी दो दिन से मेरी तबियत ठीक नहीं है।'

'क्या कहा? तबियत ठीक नहीं है!!' कहते हुए उमंग के अगाध में डूबकर तैरकर, आगे बढ़कर, राधाकान्त ने झट से मल्लिका के मस्तक पर हाथ रख दिया।

उत्तप्त ललाट देखकर वे कुछ गम्भीर हुए, पर फिर तुरन्त कह उठे··· 'सचमुच तुमको तो ज्वर है।'

ललाट पर यकायक राधाकान्त का हाथ पड़ जाने के कारण मल्लिका का हृत्पिंड दोलायमान हो चुका। एक बार उसके जी में आया, उस हाथ को झटककर वह झट से चल खड़ी हो, किन्तु वह ऐसा सोचकर ही रह गई। पर तब तक राधाकान्त ने कह दिया—'जरा हाथ तो देखूँ।'

यह स्थिति कितनी दयनीय है! एक सभ्य शिक्षित कुमारी, एक नवल यौवन कलिका, ऐसी स्थिति में करे क्या?

मल्लिका किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई।

राधाकान्त इस समय पागल हो रहा था। उसकी आँखों में ज्वलन्त वासना नाच रही थी। अपनी कामना को किसी भी अन्य अवसर के लिए छोड़ रखना उसके लिए सम्भव न था। एक-एक क्षण में विचारों की आँधियाँ उसके भीतर आती-जाती थीं। जो कुछ भी होना हो, आज ही हो जाय, अभी हो जाय, वह उसी क्षण की ओर द्रुति गति से बढ़ रहा था। उसने यह भी सोच लिया कि अब और अधिक विलम्ब करना मूर्खता है। तब झट से उसने अपने दक्षिण हस्त से उसकी बाम कलाई थाम ली।

राधाकान्त नाड़ी-विज्ञान का विशेषज्ञ नहीं था। न तो उसने कहीं आयुर्वेदिक शिक्षा पाई थी, एलोपैथिक चिकित्सा तथा निदान का ही उसे कुछ ज्ञान था। तथापि उसने कह दिया—'तुमको नियर अबाउट नाइन्टी नाइन टेम्परेचर है।'

लेकिन ऐं! यह हो क्या गया। इस कथन के बाद जब राधाकान्त को मल्लिका का वह हाथ छोड़ देना चाहिये था, तब उसने उसी क्षण उसे चूम लिया। मल्लिका की आँखें क्रोध से रक्त वर्ण हो उठीं, अधर फड़कने लगे। मुख पर एकदम से पसीना आ गया! कुर्सी के ऊर्ध्व भाग पर उसके केश बिखरे हुए थे। अब वह तत्काल उठकर खड़ी हो गई।

अब फिर एक बार मल्लिका ने राधाकान्त की ओर देखा और राधाकान्त ने मल्लिका की ओर। एक क्षण को एक-दूसरे की आँखें समक्ष हो गईं। राधाकान्त मल्लिका की उस उद्दीप्त दृष्टि के समक्ष टिक न सका। उसने अनुभव किया कि उसके इस आचरण ने उसे बहुत नीचे गिरा दिया है। और तब वह एक क्षण के लिए मन ही मन भयातुर भी हो उठा। एक बार घृणा-की-घृणा उसमें समा गई। उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे उसके मुँह पर कालिख पुत गई है। और तब उसके मुँह से निकल पड़ा—'मल्लिका!'

उत्तेजित मल्लिका बोली—'आप इतने नीच हैं, यह मैं न जानती थी!'

नतमस्तक होकर राधाकान्त ने कहा—'मुझे क्षमा करो मल्लिका, मैं तुम्हारे सामने इस समय सचमुच एक अपराधी के रूप में हूँ। लेकिन इतना मैं जरूर कहूँगा कि मनुष्य के जीवन में यही एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह इतना नीच बन जाता है। मुझे क्या हो गया है, यह मैं स्वयं समझ नहीं पाता। मैं जानता हूँ कि मैंने अपराध किया है; लेकिन क्या यह सोचने की बात नहीं है कि आखिर मुझे इतना नीच या अपराधी बनाया किसने? यह प्यास आज की नहीं है। कई वर्ष से यह उत्तरोत्तर बढ़ती आ रही है। लेकिन इस समय उन बातों की चर्चा करना व्यर्थ है। बस, एक बात जानकर अब मैं चला जाऊँगा कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया कि नहीं? आज अभी, इसी समय, मुझसे साफ तौर से कह दो मल्लिका। भविष्य में यदि तुम चाहोगी, तो कभी इस विषय में एक शब्द तक न कहूँगा। लेकिन आज के मेरे इस अपराध को तुम क्षमा कर सकती हो कि नहीं, बस, यही इतनी सी बात जान लेना चाहता हूँ। मेरा जीवन और मृत्यु तुम्हारे इसी उत्तर पर निर्भर है। अगर तुमने क्षमा न किया तो तुम आज ही, इसी दिन, सुन लोगी कि तुमने जिसे क्षमा नहीं किया, उसे क्षण भर की एक निर्जीव वस्तु तक ने अपनाकर, तुम्हारी घृणा की चरम सीमा से, सदा के लिए मुक्त कर दिया है।'

मल्लिका ने अविश्वास से हँसकर मुँह बजाते हुए कहा—'सिर्फ कहने की बातें हैं, डींग मारने की। मैं पूछती हूँ······यदि मैं आपको क्षमा न करूँ, तो क्या सचमुच आप अपना जीवन खो देंगे?'

भाव गर्वित राधाकान्त बोला—'सचमुच मल्लिका, बिल्कुल ऐसी ही बात है। इस समय और अधिक दूर जाने की बात नहीं है। थोड़ा परिचय तो मैं तुमको अभी दिये देता हूँ।' कहते हुए उसने अपनी पाकेट

से चाकू निकालकर जोर के साथ बाएँ हाथ की गद्दी में भोंकते हुए कह दिया, 'यह लो !'

फल्ल से खून की धार निकल कर फर्श पर गिरने लगी ।

इस दृश्य को देखकर मल्लिका एकदम से सन्न हो उठी। इसकी कल्पना भी वह नहीं कर सकती थी। खून देखकर वह कुछ भयकातर भी हो उठी। पर इन सब भावों के साथ यह भी वह समझ गई कि यह व्यक्ति भावुक होने के साथ-साथ साहसी भी कम नहीं है, और साहस वीरता का मुख्य गुण है। अतएव तत्काल वह बोल उठी—'आपने यह क्या किया ! ऐसा करना तो उचित न था। खैर जो बात हुई हो गई, अब मैं आपको क्षमा करती हूँ ।'

'अब मैं करूँ क्या ?' सोचती हुई मल्लिका पुनः बोली—'अच्छा चलिए, मैं आपके साथ चलती हूँ। डाक्टर भल्ले यहीं पास ही बैठते हैं। लाइये, तब तक मैं आपका हाथ तो बाँध ही दूँ ।' कहकर जो रुमाल उसके हाथ में था, उसी से उसने राधाकान्त के हाथ को बाँध दिया। यद्यपि थोड़ी देर में वह भी खून से तरबतर हो गया ।

दोनों डाक्टर साहब के यहाँ जाने को चल खड़े हुए। राधाकान्त पीछे थे, मल्लिका आगे। मार्ग में कुछ क्षण मौन रहकर राधाकान्त बोले—'चलती तो हो, पर डाक्टर से कहना क्या होगा, यह भी सोच लिया है कि नहीं ?'

मुसकराहट दबाती हुई अब मल्लिका बोली—'मैं सब कह लूँगी ।'

इसी स्थल पर नारी सबसे अधिक दुर्बल है। कोई सम्बन्ध न रखती हुई भी वह उस व्यक्ति की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकती, जो उसके लिए अपने जीवन को संकट में डाल सकता है !

१७

कृतज्ञता स्वयं एक प्रतिदान है। पर जब वह व्यावहारिक रूप ग्रहण कर लेती है, तब तो उसका प्रभाव चिरस्थायी हो जाता है।

तारिणी कई दिनों तक बराबर सरोजिनी के घर जाती रही। यों तो सरोजिनी के यहाँ उसकी कई सखियाँ प्रायः आया करती थीं, लेकिन इस अवसर पर तारिणी ही वहाँ अधिक रहती थी। साथ में कभी कला चली आती, कभी मल्लिका। कभी-कभी सरोजिनी की नौकरानी भी उसे बुला ले जाती थी। इस बीच सरोजिनी ने प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभव कर लिया था कि तारिणी मुझे बहुत चाहती है।

इसका कारण था। घर में जो स्त्रियाँ आती-जाती थीं, सरोजिनी की ओर से, उनके साथ तारिणी को ही व्यवहार करना पड़ता था। आगत-स्वागत, रसोई का प्रबन्ध, सरोजिनी के लिए ताजे और पुष्टिकारक पदार्थ बनवाकर समय पर उसे खिलाने की व्यवस्था, वकील साहब के कार्य-क्रम में किसी प्रकार का अन्तर न पड़े इसका ध्यान, गाने बजाने का प्रबन्ध, आदि बातों के विषय में तारिणी का सजग भाव देख-देखकर सरोजिनी बड़ी प्रभावित हुई थी। उसने यह अनुभव किया कि यदि इस अवसर पर वह उसकी सहायता न करती, तो किसी भी काम का सुचारु रूप से सम्पन्न होना सम्भव न था।

इस बीच में तारिणी को वकील साहब से परिचय प्राप्त करने का भी अवसर मिला। वकील साहब नई उमर के एकहरे बदन के एक स्वस्थ और सुन्दर युवक थे। गौर वर्ण था, क्लीन शेव्ड मुख। पान खाने के बड़े

शौकीन। इन सब बातों के साथ-साथ उनमें एक विशेष बात और थी। वह यह कि उनकी बोली इतनी आकर्षक थी कि श्रोता को सहज ही प्रभावित कर लेती थी। और जब कभी उनकी मृदुल भाषा के साथ व्यवहार की मृदुलता का भी सामंजस्य हो जाता तब तो उनके सम्पर्क में आने वाले किसी भी व्यक्ति का उनके साथ प्रभावित न होना असम्भव हो जाता था।

इन वकील साहब का तारिणी पर भी प्रभाव पड़ा था। जब वे कचहरी से आते, तो उनको तुरन्त थोड़ा-सा ताजा हलुआ या नमकीन समोसे आदि नवीन-नवीन खाद्य पदार्थ तैयार मिलते। इन चीजों का चुनाव तारिणी खुद अपनी इच्छानुसार करवाती थी। बनानेवाली तो महराजिन थीं, लेकिन इन विभिन्न पदार्थों के बनाने का विधान तो तारिणी को ही बतलाना पड़ता था। खुशबूदार और जायकेदार मसालों की व्यवस्था में भी उसी का हाथ रहता था। इस प्रकार इन दिनों वकील साहब अपने घर की व्यवस्था में बहुत उच्च परिवर्तन देख-देखकर इतने प्रसन्न रहा करते थे कि कभी-कभी अपनी यह प्रसन्नता प्रकट भी कर डालते थे।

लेकिन तारिणी वकील साहब के सामने कभी होती न थी। वह प्राचीन हिन्दू संस्कृति में पली बहुत ही सती-साध्वी, पवित्र विचारों की, रमणी थी। प्रेम के सम्बन्ध में नये युग के विचारों से उसे घृणा थी। परपुरुष का स्मरण, ध्यान, दर्शन और सम्भाषण सुनने की उसमें जरा भी आस्था न थी। इसलिए जब कभी उसके हृदय के क्रोड में इस प्रकार के आनन्द का उद्रेक होता, तो उसकी आत्मा में समाया हुआ नारी धर्म का पवित्रतम आदर्श ज्योतिहीन-सा हो उठता। तब उसे कुछ अच्छा नहीं लगता था। उस समय वह वकील साहब के यहाँ से तुरन्त चल देने को प्रस्तुत हो जाती और सरोजिनी के निकट जाकर उससे कह देती—'गुइयाँ, अब तो मैं घर जाऊँगी। भाभी मेरी प्रतीक्षा करती होंगी।'

सरोजिनी जानती थी कि तारिणी ने इन दिनों कितना अधिक परि-

श्रम करके उसे उपकृत किया है। इसलिए उसके ऐसा कहने पर, ठहर-कर जाने की बात भी वह कभी कहती न थी। हाँ, कोई बहुत ही आवश्यक काम छूटा या अधूरा पड़ा रह जाता, तो चलते समय स्मरण अवश्य दिला देती थी।

पुत्र-जन्म हुए एक मास हो रहा था और अब तीसरा स्नान हो लेने के बाद सरोजिनी प्रसूतिका गृह से बाहर निकलने ही वाली थी। सायंकाल के पाँच बज रहे थे। वकील साहब को आये हुए एक घंटा हो गया था। वे जलपान कर चुके थे और सुचित्त होकर अपने कमरे में बैठे हुए थे। उस समय महराजिन रसोईघर में ही थीं। और कोई भी व्यक्ति ऐसा न था, जो तश्तरी में रखे हुए दो बीड़े पान तथा इलायची उन्हें दे आता। सरोजिनी के निकट बैठी हुई तारिणी दो मिनट तक तो चुपचाप बैठी रही, पर और अधिक देर तक वह स्थिर रह न सकी। बोली—'गुइयाँ, पान लगे रक्खे हैं। कोई देख नहीं पड़ता जो वकील साहब को दे आता।'

अपने गोल-मटोल बाल शिशु को स्तन पान कराती हुई सरोजिनी जरा-सी मुसकरा उठी। बोली—'एक तरफ तो उन्हें देवर कहती हो, दूसरी तरफ उनसे पर्दा करती हो! यह कैसी बात है जीजी?'

तारिणी कुछ न बोली। वह नीचे की ओर दृष्टि डाले हुए फर्श की चटाई की खपच्चियाँ कुरेदने लगी।

सरोजिनी जान गई कि तारिणी उनसे पर्दा ही रखना चाहती है। इसलिए उसने कहा—'लेकिन, यह तो अच्छी ही बात है। इसमें लजाने या संकोच करने की तो कोई बात है नहीं। महराजिन खाली हो जायँगी, तो दे आयेंगी। या तब तक कोई आ ही जायगा।''

सरोजिनी यदि यह बात न कहती, तो सम्भव यही अधिक था कि तारिणी के मन में किसी प्रकार का भाव परिवर्तन न होता। परन्तु जिस बात को सरोजिनी ने इतना स्पष्ट कर दिया था, तारिणी उसमें अपने अन्तर की दुर्बलता का अनुभव करने लगी। सरोजिनी की बात समाप्त

होते-होते वह झट से उठ खड़ी हुई और तश्तरी उठाकर वकील साहब के कमरे की ओर बढ़ गई।

तारिणी इस समय खद्दर की एक शुभ्र साड़ी पहने हुए थी। उसकी गति में किसी प्रकार का आवेग नहीं था। परन्तु उसकी अन्तरात्मा में दामिनी सी कभी-कभी अवश्य ज्योति कम्प उपस्थित कर उठती थी। उसके नवल यौवन की आभा अभी जरा भी शिथिल, विकलित नहीं हुई थी। वह जिधर देखती, उधर ही एक ज्योति पुंज सी बिखर जाती। जिन आँखों पर उसकी दृष्टि पड़ जाती, तो आँखें स्थिर न रह सकती थीं। उसकी एक-एक दृष्टि से दृष्टा के भावों का संसार बन-बिगड़ सकता था। फिर भी तारिणी आखिरकार विधवा ही थी। संयम से उसने अपने आप को खूब कस लिया था। यदा-कदा उठने वाली वासनात्मक लहरों को वह वह तुरन्त मसल डालती थी।

तारिणी किवाड़ों की ओट में खड़ी हो गई। साँकल खटखटाकर उसने पानों की तश्तरी किवाड़ों के बीच से आगे कर दी।

वकील साहब ने देखा, तो वे एकदम से चकित हो गये। झट से उठ कर खड़े हो गये और आगे बढ़ कर बोले—'अरे तुम हो भाभी! अहो भाग्य!' और तुरन्त उन्होंने उनके चरण-स्पर्श करके उनकी पद-रज अपने ललाट पर लगा ली। तश्तरी उनके हाथ से लेकर टेबिल पर रख ली; उसमें से दो बीड़े पान उठा कर खा लिये।

तारिणी चली आई।

१८

लोचन बाबू तारिणी और मल्लिका के लिए दो नई अच्छी सी साड़ियाँ ले आये थे। वही इस समय दोपहर के, फैले प्रकाश में देखी जा

रही थीं। पहले ही एक साड़ी मल्लिका ने अपने लिए छाँट ली। बोली—'भाभी, मैं तो यही तितली किनारे की साड़ी लूँगी।'

तारिणी बोली—'अच्छा तो है, यही ले ले। यह मेरे लायक है भी तो नहीं।'

तारिणी अन्तिम शब्द कहते-कहते उदासीन हो गई। रमाशरण के स्वर्गवास के बाद नई साड़ियों के आने का यह पहला ही अवसर था। उस समय एक-दो साड़ियाँ इस तरह अपनी रुचि के अनुसार बाजार से लाने का कभी अवसर न आता था। कम-से-कम दस-बीस साड़ियों में से छाँटकर कुछ साड़ियाँ खरीदी जाती थीं। एक से एक बढ़कर कपड़े और किनारियों के डिजाइन्स सामने रहते थे। तीन-चार साड़ियों के चुनाव के उस अवसर पर यदि पाँच-छै साड़ियाँ तक एक ही प्रकार की होतीं और उनमें से किसी को घट कर और किसी को बढ़कर देखने में झंझट, उलझन या विवाद उठने की नौबत आ जाती, तो वे कुल साड़ियाँ खरीद ली जाती थीं। दूकानों पर रमा बाबू के नाम का खाता रहता था। कुल रकम उनके नाम लिख ली जाती थीं, और फिर दो-एक बार के तकाजे से वसूल हो जाती थी। आज जब लोचन बाबू बाजार से दो साड़ियाँ नकद दाम देकर खरीद लाये, तो वे दिन, वे बातें और वे दृश्य तारिणी की आँखों के सामने घूमने लगे।

मल्लिका ने अपनी पहनी हुई साड़ी के लिए लोचन बाबू से कहा—'अब इसको धुलवा भी दो भैया।'

लोचन बाबू बोले—'अच्छा बिट्टी। मैं धोबी को अभी जाकर बुला लाता हूँ। तब तक और भी कपड़े इकट्ठे कर लो।'

तारिणी ने कुछ सोचकर कहा—'पर छोटे भैया, तुम भाभी के लिए कोई साड़ी क्यों नहीं ले आये? जाओ, अभी, तुरन्त ले आओ। इस तरह की कंजूसी मैं पसन्द नहीं करती।'

लोचनबाबू बोले—'किन्तु उसको अभी जरूरत भी तो नहीं है। रक्खी तो हैं कई साड़ियाँ उसके ट्रंक में।'

तारिणी बोली—'तो क्या हुआ? रखने को तो मेरे पास भी एक-से-एक बढ़कर साड़ियाँ रक्खी हैं। परन्तु ऐसा भी कहाँ होता है कि घर में हम लोगों के लिए साड़ियाँ ली जायँ, और वह बेचारी चुपचाप बैठी ताका करे।...लेकिन नयी साड़ी खरीदने से तो यही अच्छा होगा कि अपनी रखी साड़ियों में से एक निकाल दूँ। अच्छा ठहरो, मैं अभी जाकर देखती हूँ।'

थोड़ी देर में तारिणी कला के लिए एक अच्छी-सी साड़ी निकाल लायी। कला उसको देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। बोली—'जीजी, बस यही ठीक है, मेरे मन की है। मैं ऐसी ही साड़ी चाहती भी थी। बल्कि यह तो बिट्टी की पसन्द की हुई साड़ी से भी अच्छी देख पड़ती है।'

मल्लिका बोली—'किन्तु इस तरह की अनेक साड़ियाँ मैं पहन-फाड़ चुकी हूँ। इसलिए अब उसे ले लेने का लालच मुझे नहीं है। तुम उसको सहर्ष ले सकती हो।' अन्तिम शब्द कहते-कहते मल्लिका जरा-सी मुसकरा दी।

मल्लिका ने यह बात यों ही कह दी थी। किसी पर आक्षेप करने की इच्छा उसके इस कथन में बिल्कुल नहीं थी। तो भी न जाने क्यों, कला को ऐसा लगा, जैसे मल्लिका ने व्यंग में यह बात कही हो। अस्तु, उसकी इस बात ने उसे आहत-सा कर दिया। एक बार उसके जी में आया—वह इस कड़ुवे घूँट को पी जाय, परन्तु इसमें उसने कायरता का अनुभव किया। सोचने लगी—'मैं किसी से दबूँ क्यों? मैं इन लोगों की आश्रित तो हूँ नहीं। मेरा पति जब दिन-रात इन लोगों की खुशामद में रहता है, मैं स्वयं जब दिन-रात गृहस्थी के कामों में अपना पसीना गिराया करती हूँ, तब अगर रोटी-कपड़ा मिल ही जाता है, तो इसमें एहसान की क्या बात है! मेरा अपना घर-द्वार भी तो है! हैं ही वे मूर्ख, जो दो रोटियों पर

यहाँ पड़े हुए हैं। इस तरह की जिन्दगी बिताने से तो किसी दूसरे के यहाँ चालिस-पचास रुपये की नौकरी कर लेना कहीं अच्छा है। उस दशा में दिन-रात यह हाय-हाय किल-किल तो कभी न होती।'

कला के मन में ये विचार सदा गूँजते रहते थे। इस समय फिर वह इन्हीं के चक्कर में पड़ जाती। पहले जिस समय वह इन विचारों को मन में लाती थी, उस समय उनके प्रकट करने का उसके सामने कोई अवसर न रहता था। पर आज जब मल्लिका ने बात छेड़ ही दी, तो वह भी खुल पड़ी। बोली—'मन में यह लालच लाने की क्या बात कहती हो बिट्टी। मैंने भी ऐसी साड़ियाँ पहनी हैं। मेरे पास भी ऐसी ही, बल्कि इससे भी अच्छी साड़ियाँ रक्खी हैं। कुछ तुम्हीं अकेली साड़ियाँ पहनना नहीं जानती हो बिट्टी रानी। जीजी ने अपनी ओर से कह ही दिया। मैं उनकी बात टालना नहीं चाहती, नहीं तो ऐसी उतरन पहनने की हौंस मुझमें नहीं है।'

लोचन बाबू अभी तक चुप थे, अपने भीतर के क्रोध को वे बराबर दबाते चले जा रहे थे। एक तो बात शुरू में साधारण रूप से ही प्रारम्भ हुई थी। दूसरे जहाँ तक वे सहन कर सकते थे, वहाँ तक वे सदा तत्पर रहते थे। लेकिन जब उनकी सहन-शक्ति उन्हें जवाब दे देती, तब वे उग्र-से-उग्र हो जाने में भी कभी हिचकते न थे। कला की अन्तिम बात वे सहन न कर सके। बीच ही में बोल उठे—'अब तू चुप रहेगी, या मुझे फिर तेरी दवा करने को उठना ही पड़ेगा?'

कला ने उसी प्रकार आग के अंगारे उगलते हुए कहा - 'चुप क्यों रहूँ। इसमें चुप रहने की क्या बात है! गालियों का जवाब चुप रह कर देना मैंने नहीं सीखा।' लोचन बाबू को ताव आ गया। एक लात पीठ पर, दूसरा कमर पर, जमा देने के बाद वे बोले—'दुष्टा कहीं की। मेरे सामने ही कमीनापन दिखलाती है।'

कला रो पड़ी। तारिणी और मल्लिका लोचन बाबू को जब तक

रोकें-रोकें—जब तक उनको पकड़ें-पकड़ें तब तक बात-की-बात में यह काण्ड हो ही गया।

लोचन बाबू खुद भी काँपने लगे। वे बोले—'यह इतनी दुष्ट स्वभाव की स्त्री है कि इसने मेरा जीवन ही बरबाद कर दिया। तुम्हीं बताओ दिदिया, बिट्टी ने ऐसी कौन-सी आपत्तिजनक बात कही थी जो इसे बुरी लगनी चाहिए थी? लेकिन दुष्टा नारी को चाहे जितना समझाओ, बिना लात-घूँसा खाये वह दुरुस्त ही नहीं होती।'

कला रोती हुई बोली—'मुझे मार ही न डालो, तो इस दुष्टा से हमेशा के लिये ही छुट्टी मिल जाय। जब तुम जानते हो कि मैं दुष्टा हूँ, तो फिर मुझे मेरे घर ही क्यों नहीं छोड़ जाते। क्या करूँ, मुन्ना की ओर देखती हूँ। नहीं तो मैं आज ही तुम्हें बतला देती कि एक अबला पर हाथ छोड़ने का क्या फल होता है?'

दग्ध-हृदय लोचन बाबू बोले—'कुछ सुना तुमने दिदिया, इसने क्या कहा? देखा, यह कितनी नीच है! अरे! तू इसका फल मुझे क्या दिखलाती, मैं तुझे खुद ही मिट्टी में मिला देता! अभी तुझे पता नहीं है कि मैं जितना सीधा हूँ उससे कहीं अधिक क्रोधी भी!'

इस दृश्य को देखकर मल्लिका घबरा गई थी। पर अब झगड़ा कुछ शान्त होते देख वह बोली—'दद्दा, अब जाने भी दो इन छोटी बातों को। मैं अपना अपराध स्वीकार किये लेती हूँ। भाभी मुझे क्षमा करो। सचमुच वह बात मैंने यों ही हँसी में ही कह दी थी। यद्यपि तुमको नाराज करने का मेरा कतई इरादा न था।'

तारिणी कभी कल्पना भी न कर सकती थी कि उनकी भाभी इतनी मुखर और ईर्षालु होगी। कैसी कुटिल नारी को उसने आश्रय दे रक्खा है, यह सोचकर वह काँप उठी और बोली—'छोटी भाभी के बारे में मैं यह तो सुनती आ रही थी कि वे जबान की बड़ी तेज हैं, पर इस तरह की बातें सुनने का मुझे कभी मौका नहीं मिला था। खैर, अब सारा झगड़ा ही मैं

समाप्त किये देती हूँ। अब मैं यह साड़ी स्वयं रखे लेती हूँ। ऐसी ही एक नयी साड़ी भाभी के लिए, छोटे भैया, तुम बाजार से अभी ला दो।'

कला बोली—'जीजी, साड़ी-वाड़ी अब मैं न लूँगी। मुझे मेरे घर भिजवा दो।'

तारिणी ने उत्तर दिया—'साड़ी तो आयेगी ही, और अगर तुम्हें यहाँ रहना स्वीकार नहीं है, तो दो चार दिन में तुम्हारी विदाई भी मैं कर दूँगी। जब तक जैसे इतने दिन कष्ट सहा, वैसे ही दो-चार दिन और सह लो। मैं अब तुम्हें अधिक कष्ट न दूँगी।'

१६

एक मादकता थी उस दृष्टि में, एक हलाहल था, उस चितवन में। राधाकान्त जब डाक्टर भल्ले के यहाँ अपने हाथ में दवा-पट्टी बँधवाकर मल्लिका के साथ लौट पड़ा, तो उसके हाथ में काफी दर्द होने लगा था। चाकू आध इंच गहरा घुस गया था। रक्त भी छटाँक के लगभग उससे निकल गया था। जिस समय उसने चाकू भोंक लिया था, उस समय उसके हृदय की स्थिति बड़ी विचित्र थी। आत्मघात करके मरकर दिखलाने के पश्चात् यदि पुनः जीवन प्राप्त कर लेने की स्थिति सम्भव होती, तो सम्भव था कि राधाकान्त अपनी बात की यथार्थता प्रमाणित करने के लिए इस तरह का दुस्साहस भी कर बैठता। परन्तु अभी विज्ञान इतना आगे नहीं बढ़ सका है। जो हो, चाकू भोंक लेने के क्षणभर पूर्व उसमें एक प्रकार का अदमनीय आवेश आ गया था। वह परीक्षा का समय था। और योग्य परीक्षार्थी संयोग आने पर कभी चूकता नहीं। अपने साथियों में राधाकान्त संयोग पर विश्वास करने और उससे भरपूर लाभ उठाने वालों में सबसे अधिक प्रसिद्ध था। प्रसिद्ध न कहकर उसे 'बदनाम' ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। वह कहा करता था—'जो

व्यक्ति संयोग मिलने पर भी अपने आपको आगे बढ़ने से रोकता है, वह कभी उन्नति कर नहीं सकता। क्योंकि संयोग जीवन में एक-ही-दो बार आता है। आने पर भी आगे बढ़ने से रुक कर सोच-विचार में डूबने-उतराने वाले व्यक्ति कायर होते हैं। मैं उनको मनुष्य नहीं, जानवर; सिंह नहीं, सियार समझता हूँ।'

राधाकान्त के सामने भी एक संयोग उपस्थित था। उसकी अपनी चेतना, उसका अपना विवेक उस समय उसी संयोग में आत्मसात् हो गया था। उसकी नसों में रक्त का प्रवाह अत्यन्त तीव्र हो उठा था। वह अपने को भूल गया था। उसकी सुधि-बुधि खो गयी थी। वह इतना भी नहीं जानता था कि मैं कर क्या रहा हूँ। उसके जीवन का वह क्षण उसके लिए बहुत ही मार्मिक और महान् था।

इसके पश्चात् जब मल्लिका को वस्तु-स्थिति का ज्ञान हुआ, और उसने उसके प्रफुल्ल मुख को देखा तब राधाकान्त के हृदय के एकान्त प्रान्त में प्रेम की सहस्र निर्झरिणियों का कल-निनाद एक साथ गुञ्जित हो उठा। उसने देखा, और अपनी दृष्टि-शक्ति को पूर्ण सजग बनाकर देखा। उसने उसके मुख पर प्रकट होने वाले भावों से यह अनुभव भी किया कि उसका प्रयोग खाली नहीं गया। आह! उसके जीवन का वह क्षण कितना छोटा, लेकिन कैसा चिरस्मरणीय था। किन्तु ऐसे क्षण कभी स्थिर नहीं रहते। वे जैसे अकस्मात आते हैं, वैसे ही वेग के साथ प्रस्थान भी कर जाते हैं। राधाकान्त के जीवन में भी वह क्षण आया और चला गया। वह सोचता था, उसने चकित स्तम्भित होकर कहा था—'आपने यह क्या किया। खैर, जो बात हुई हो गई। जब मैं आपको क्षमा करती हूँ।' इस कथन में 'जो बात हुई हो गई' शब्दों के भीतर बहुत कुछ छिपा हुआ है। अर्थात् आपने जो कुछ किया और जो कुछ उसका परिणाम हुआ, उसका मेरे आगे अब कोई महत्व नहीं है। तात्पर्य यह कि यदि आपने अपराध भी किया हो, पर उसके प्रतिशोध में इतना रक्त जो

गिरा दिया, तो अब मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं रही। क्या इसका यह अभिप्राय नहीं कि यदि आप इतना प्रतिशोध करने की प्रवृत्ति और भावना रखते हैं तो आपके इस प्रकार के व्यवहारों को मैं सहन करने को तत्पर हूँ।

'लेकिन ये सब बातें भी फीकी पड़ जाती हैं। धुँधले आलोक में इनका कोई स्पष्ट रूप-रेखा दीख नहीं पड़ती, जब मैं उस क्षण की उस मंजु मुद्रा की बात सोचता हूँ, जब उसने डाक्टर साहब के यहाँ चलते हुए कही थी—'मैं सब कह लूँगी।' और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस वाक्य को कहते समय वह थोड़ी-सी मुसकरा भी दी थी। जिसने मुझे नीच कहा था, जो मुझसे घृणा करती थी, क्षण भर पूर्व जिसकी आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं, जिसको थोड़ा ज्वर भी था और जिसका अपमान करके मैंने उसे भरपूर उत्तेजित कर दिया था, वही—हाँ, वही मल्लिका—उस क्षण जान पड़ा, मुसकरा दी। जान पड़ा कि कण्ठ में नहीं, अन्तःकरण में, किसी ने तरल अमृत घोल कर छोड़ दिया है, जान पड़ा कि अनन्त सुख के सहस्र झरनों के बीचो-बीच में ऐसे तैर रहा हूँ जैसे मीन! जान पड़ा कि कोई प्राणों से भी प्रिय वस्तु मेरे गले से लिपट गयी है!

'अब तो कोई बात ही नहीं है। जीवन कृतार्थ हो गया मेरा! मल्लिका अब मुझसे घृणा भी करे, तो भी मेरे लिए वह प्राणदायिनी ही है। जो बात थी, वह तो हो गयी। गले में पट्टी लटका कर और उसमें हाथ धर कर जब घर से निकलता हूँ तो मित्र मिल ही जाते हैं। पूछ बैठते हैं—हाथ में क्या हुआ? कह देता हूँ—नोटों से भरी थैली लेकर एक दूसरी दूकान में जा रहा था कि दो बदमाशों ने घेर लिया। एक तो भाग गया। दूसरे को गिराया जिसमें वह भाग न सके। मगर उसके पास चाकू था, नीचे से उसने चाकू भौंक दिया। इतने में गली में और लोग दौड़ पड़े और तब मुझे उसको छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार अन्त में वह भी भाग गया। नुकसान से तो बच गया, पर जख्मी तो हो ही गया।

'लोग जब पूछते हैं, तो बड़ा अच्छा लगता है। जी में आता है, जितने भी लोग मिलें, फिर चाहे वे पहचान के हों, चाहे न हों, बराबर मुझसे ऐसा प्रश्न किया करें। लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि ये सब पागलपन की बातें हैं। ऐसा भी कहीं होता है।'

अब जब राधाकान्त इस घर में आते हैं, तब मल्लिका इधर-उधर छिप कर नहीं बैठती। वह तो अवसर ढूँढ़ा करती है कि किसी प्रकार बात करने का संयोग पाऊँ तो उससे विवाद करूँ। शरीर और मन को दबाकर रखने वाला वह कुमारी-सुलभ सलज्ज भाव भी उत्तरोत्तर शिथिल होने लगा था। प्रगल्भ पुलकित और संकोचहीन मन का संसार ही और होता है। जब कभी राधाकान्त कोई बात कहते, तो वह इतने तर्क-वितर्क उनके सामने उपस्थित कर देती कि वे चित्रलिखित से बैठे एक टक उसे देखते रह जाते। ऐसा जान पड़ता, जैसे इतने दिन का उनका सांसारिक अनुभव इस नवल नारी ने चुटकियों में उड़ा दिया है। विस्मय की अबाध धारा में बह-बह कर वे डूबने-उतराने लगते। फिर तो आगे बढ़ने का उन्हें कोई आधार ही न मिलता। वे हार मानकर चुप रह जाते।

एक दिन उत्फुल्ल मुद्रा से मल्लिका बोली—'आप 'तारा' को यहाँ कभी नहीं ले आते। वह मुझे बड़ी प्यारी लगती है।'

राधाकान्त बोले—'वह अभी बहुत छोटी जो है।'

मल्लिका पानी का गिलास समाप्त करती हुई—'ऐसी छोटी तो नहीं है कि आप उसे साथ न ला सकें। मजे में चलती है वह, दौड़ती भी है।'

राधा बाबू को पान देती हुई तारिणी बोली—'हाँ, ठीक तो है। उसे साथ लाया कीजिये। बड़ी प्यारी लड़की है।'

इसी समय लोचन बाबू लकड़ी के चिरे हुए चैले दो मजदूरों से लदवाये हुए आ पहुँचे।

मुस्कराती हुए मल्लिका बोली—'राधे बाबू, लकड़ी चीरने का काम आप कर सकते हैं?' और हँसने लगी।

तारिणी ने डाँटते हुए कहा—'बड़ी हँसी आती है बिट्टी! ऐसा भी क्या हँसना! और लकड़ी चीरने की यह क्या बात कही तुमने?'

मल्लिका ने कहा—'तुम नहीं जानती भाभी, ये कितने बड़े बहादुर हैं। एक दिन ये कहते थे—दुनियाँ में कोई भी ऐसा काम नहीं, जिसे मैं न कर सकूँ।'

तारिणी ने कहा...'ठीक तो कहते हैं। मनुष्य अगर मन में किसी बात का दृढ़ संकल्प कर ले, तो उसे किसी न किसी दिन कर उठना उसके लिए कुछ मुश्किल नहीं है।'

'मुश्किल तो नहीं है', मल्लिका गम्भीर होकर कहने लगी—'लेकिन संकल्प की दृढ़ता ही क्या वह वस्तु है, जिससे वह जो चाहेगा, कर लेगा? संयोग और अवसर, विवेक-बुद्धि का सजग भाव और दूरदर्शिता, प्रबन्ध-कौशल और नीति-चातुर्य्य ये सभी बातें आवश्यक होती हैं। किन्तु सब कुछ होते हुए भी अन्त में मनुष्य परिस्थितियों का दास है। और यही वह स्थिति है जहाँ उसकी गति मन्द है। वह इतना परवश है कि एक पग आगे बढ़ नहीं सकता। वह इतना बँधा और जकड़ा हुआ है कि हिलडुल तक नहीं सकता।'

राधाकान्त अब और आगे चुप न रह सके। बोले—'किन्तु मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। मनुष्य की जिस अवस्था को तुमने परवशता का रूप दिया है, वह वास्तव में कोई ऐसी स्थिति नहीं है, जहाँ मानवात्मा की गति न हो। वहाँ भी मनुष्य अपना चमत्कार-कौशल प्रदर्शित किये बिना रुक नहीं सकता। तुम कहोगी कि डाक्टर ने दवा तो दी, लेकिन उसने काम नहीं किया, तब उस स्थल पर मनुष्य क्या करेगा? तुम कहोगी कि यहाँ मनुष्य की गति मन्द है। लेकिन मैं समझता हूँ, वहाँ भी मनुष्य निश्चेष्ट नहीं है। वहाँ भी गति है। ट्रेन तो जायगी ही, लेकिन एंजिन पानी भी तो लेगा। मानवात्मा तो चेतन है न, वह उठकर बैठ जायगी, सोती थोड़े रहेगी। लेकिन वस्त्र यदि बदलने ही योग्य हुआ तो? और

एंजिन को भी तो बदलना पड़ता है। तब वह परवश कैसे हुआ ? गति की व्यापकता तो असीम है न ? पथिक सो गया और यदि सोता ही रह गया, तो फिर ? क्या उसकी गति लुप्त हो गयी ? लुप्त कैसे हो गयी ? पथिक कौन था ? जो पड़ा रह गया, जिस पर चीटियाँ दौड़ने लगीं, जिसमें दुर्गन्ध आने लगी, जो निर्जीव है, क्या वह पथिक था ? तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि वह चलता बना ? वह तो चलता बना और यह जो रह गया वह कौन ठहरा ?'

'यह रह गयी उसकी काया', मल्लिका उत्साह के साथ बोली—'यह रह गया उसका शरीर। अच्छा तो यह रह ही क्यों गया ? वृद्ध भी नहीं है, निर्बल भी नहीं है, तो भी रह ही गया। क्यों रह गया ? और दवा तो वह वस्तु है, जिसे काम देना ही चाहिये। उसने फिर क्यों काम नहीं दिया। मनुष्य बड़ा पुरुषार्थी है, बड़ा समर्थ है तो फिर रोने क्यों बैठता है ? अपने अभावों के प्रति ठंढी साँसें क्यों लेता है ? मनुष्य तो अल्ला मियाँ का आका है, तो फिर वह थकता क्यों है ? उस समय उसकी वीरता कहाँ चली जाती है !

'मैंने तो पहले ही बतला दिया', राधाकान्त ने कहा—'थकना और रुकना विश्राम लेना और चोला बदलना भी उसकी प्रकृति है। और रोना या ठंढी साँसें भरना—यह भी उसकी प्रकृति है, भावुकता है, भावना-लहरी है। इसका यही अर्थ क्यों लिया जाय कि वह परवश या असमर्थ है ? वह रोता है, क्योंकि उसे रोने में शान्ति मिलती है, अगर वह पश्चात्ताप ही करता है तो क्या हुआ ? गैया जुगाली करती है। अब कहो कि वह जुगाली क्यों करती है घोड़ा तो नहीं करता है ? प्रश्न तो जैसा चाहो कर लो, पर जुगाली करना उसकी प्रवृत्ति है, तो रोना-चींखना या पछताना उसकी प्रकृति क्यों नहीं है ?'

'ये सब कहने की बातें हैं', मल्लिका ने कहा—'क्योंकि अंगूर खट्टे हैं। जब देखा, अब यहाँ उत्तर की संगति नहीं मिलती, तो कहने लगे—

यह तो उसकी प्रकृति है। अच्छी उसकी प्रकृति है। प्रकृति न ठहरी, खाला जी की चादर ठहरी कि जब चाहे तब ओढ़ ली, और जब चाहा तब उससे आटा छान लिया।'

मल्लिका की अन्तिम बात सुनकर तारिणी हँस पड़ी। राधाकान्त को भी हँसी आ गयी और स्वयं मल्लिका ने भी रुमाल अपने मुँह में लगा लिया।

राधाकान्त को यह दृश्य भी बहुत दिनों तक भूला नहीं।

१०

लोचन बाबू ने कला को पीट तो दिया, पर अपने इस आचरण का उन्हें दुःख बहुत हुआ। एक समय था, जब नारी जाति पर हाथ उठाने वाले व्यक्तियों को वे 'नर पशु' कहा करते थे। लोग कहते—'साहब किया क्या जाय, हमारा समाज ही इतने गहरे गर्त में है कि अनमेल विवाह के कारण दिनोंदिन गृह-कलह बढ़ता ही जाता है। यदि किसी घर में कोई एक भी नटखट बहू आ गयी, तो वह सारे घर के सम्मिलित कुटुम्ब को विशृंखलित करके उसे मिट्टी में मिला देती है। इससे तो यही अच्छा है कि दस व्यक्तियों का विकास, ऐक्य और सौहार्द्र स्थिर रखने के लिए एक व्यक्ति को हम अपने कठोर अनुशासन से संतुलित रक्खें। इसमें हमें तो कहीं पर कोई भूल—कोई त्रुटि देख नहीं पड़ती।'

लोचन बाबू लोगों के इस कथन का बहुत उपयुक्त उत्तर देते थे। वे कहते थे—'लेकिन यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा ठहरी न! तुम हाथ उस पर उठाते हो, जो निर्बल अशक्त और परवश है। पर यह तुम्हारी वीरता नहीं, जड़ता और नीचता है। हाथ उस पर उठाओ, जिससे हाथ उठाने का जवाब पा सको। वह तो स्वतः गऊ है—अबला है। उस पर तुम हाथ उठाते हो। धिक्कार है तुमको!'

दूसरी बात वे कहते थे कि 'तुम हाथ उस पर उठाते हो, जिसे अपने अपराध का ज्ञान नहीं, जो अशिक्षित है। अबोध है। अबोध बालक को मार-मार कर शिक्षा देना उसे कायर और आत्म-गौरव हीन बनाना है। जब तक तुम अपराधी को उसके अपराध का ज्ञान भलीभाँति नहीं करा सकते, तब दण्ड-विधान की महत्ता ही क्या है? आवश्यकता तो इस बात की है कि पहले तुम उन्हें इस योग्य बना दो कि वे, जो कुछ तुम चाहते हो, कहते हो, उसको समझ तो सकें। जब वे इतना भी नहीं जानतीं कि वे क्या कर रही हैं, किस भ्रम में पड़कर कर रही हैं, तब तुम उन्हें दण्ड देते हो! दण्ड तुम्हारा अपना दृष्टिकोण क्या होता है, यह तक तो वे नहीं जान पातीं और फिर भी तुम उनको दण्ड देते, उन पर हाथ उठाते हो। छिः छिः!'

इस प्रकार स्त्री-समस्या को जिस व्यक्ति ने इतना अधिक समझने की चेष्टा की हो, वही आज अपनी भार्या पर हाथ छोड़ बैठे। उफ! उन्होंने कितना बड़ा अपराध किया—लोचन बाबू यह सोचकर बहुत दुःखी हुए।

उनके सोचने का दृष्टिकोण बड़ा विचित्र होता था। जिस बात को वे एक बार तय कर लेते, उसे करके ही छोड़ते थे। पथ से विलग होना, शील-संकोच में आकर अपने संकल्प से च्युत होना तो उन्होंने सीखा ही न था।

उस घटना के डेढ़ घंटे बाद लोचन बाबू ने आकर अपनी बहिन तारिणी से कहा—'एक आवश्यक काम से मुझे मौरावाँ (जिला उन्नाव) जाना है। सम्भव है, वहाँ दो-एक दिन लग जायँ। यदि ऐसा हो, तो कोई चिन्ता न करना।'

और इसके पश्चात् धोती-लोटा बिस्तरे में लपेट कर वे चले आये। चले तो आये, पर अब उनका संकल्प उनके सामने था। वे सीधे सरसैया घाट के एक धर्मशाले में आकर टिक गये। उस दिन उन्होंने आहार ग्रहण

नहीं किया। रात भर बड़ी निश्चिन्तता से सोते रहे। दूसरा दिन आया, वे गंगा किनारे कुछ देर बैठे रहे। फिर स्नान करने के बाद एक पंडा की चौकी पर बैठे-बैठे भजन और जप करते रहे। जब दोपहर के दो बज गये और फिर भी लोचन बाबू न उठे, तो पंडा ने कहा—'बाबू मैं तो अब जाता हूँ। जब तक आपकी इच्छा हो बैठियेगा और जब जी चाहे, तब चले जाइयेगा।' लोचन बाबू आँख बंद किये भगवत्आराधना में लीन थे। अतः कुछ बोले नहीं। आखिरकार सन्ध्या हुई। लोचन बाबू उठे—चार चिल्लू गंगा जल पिया और फिर धर्मशाले में जाकर, एक चारपाई पर लेट रहे। लेटे-लेटे बहुत कुछ सोचते-विचारते रहे। रात हुई, ग्यारह बजे तक जगते रहे और तदुपरान्त सो गये। आज भी उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया।

आज के दिन उन्होंने जो कार्य-क्रम रक्खा, वही दूसरे दिन भी जारी रहा। पर तीसरे दिन वे वैसा न कर सके। उस दिन वे रात-दिन लेटे ही रहे। इस प्रकार तीन दिन, दिन-रात उन्होंने धर्मशाले में बिता दीं, पर आहार ग्रहण नहीं किया। पहले दिन तो वे घर से दोपहर को भोजन करके आये ही थे, यद्यपि उस दिन भी सायंकाल का आहार उन्होंने नहीं ग्रहण किया था। परन्तु उपवास के तीन दिनों में उस दिन की गणना नहीं हो सकती थी। इसलिए उस दिन के पश्चात् जब तीन दिन और व्यतीत हो गये, तब वे प्रातःकाल धर्मशाले से चल दिये। निराहार रहने के कारण शरीर में इतना बल नहीं रह गया था कि वे घर तक पैदल जा सकते। इसलिए वे इक्के पर बैठकर गये। मुख पर शुष्कता और श्यामता दौड़ गयी थी और आँखों पर पीलापन आ गया था। अब वे कई दिनों के बीमार मालूम पड़ते थे। इक्के से उतर कर किसी प्रकार जब लोचन बाबू मकान की सीढ़ी के निकट पहुँचे, तब पसीने से लथपथ हो चुके थे। अब आगे बढ़ने की सामर्थ्य उनमें न रह गयी थी। तब उन्होंने अपने आत्मबल का अवलम्ब लेकर कुछ जोर

कहा—'अरे बिट्टी, जरा इधर तो आना। आह! मुझसे आज उठा नहीं जाता।'

बिट्टी जब सीढ़ी के निकट आयी, तो लोचन बाबू को इस रूप में देखकर अवाक् रह गयी! बोली—'अरे तुमको हो क्या गया भैया! तुम तो बीमार हो। हम लोग परसों से बड़ी प्रतीक्षा में थे।'

मल्लिका ने एक हाथ खूब मजबूती के साथ थाम लिया। लोचन बाबू उसका सहारा पाकर भीतर आ गये। तारिणी दौड़ पड़ी। बोली—'अरे भैया को क्या हो गया!'

कला ने सुना तो वह भी सहम गयी।

मल्लिका बोली—'जान पड़ता है, ज्वर आने लगा है।'

कला ने चारपाई बिछा दी। लोचन बाबू उस पर लेट रहे। पीढ़े डालकर वहीं निकट ही तारिणी, मल्लिका और कला तीनों बैठ गयीं। दस-पन्द्रह मिनट तो लोचन बाबू को चेतन होने में लगे। तदन्तर उन्होंने धीरे-धीरे इस प्रकार कहना शुरू किया—'मुझे ज्वर नहीं आया, ज्वर मेरे निकट आसानी से आ भी नहीं सकता। मैं आदमी ही ऐसा हूँ कि ज्वर भी मुझसे डरता है। इस बार तो इच्छा होने पर भी वह नहीं आया। मैं कहीं गया नहीं था, यहीं इसी शहर में, एक धर्मशाले में ठहरा था! निराहार रहते हुए आज मुझे पाँचवाँ दिन है। यहाँ रहता, या घर चला जाता, तो लोग उपद्रव मचाते और मुझे अपना व्रत भङ्ग करना पड़ता। इस तरह मुझे सन्तोष है कि अपने संकल्प को पूरा कर सका। मैं अब भी निराहार रहूँगा, जब तक यह मेरी दुष्टा पत्नी मेरे विचारों और इशारों पर चलने की शपथ न लेगी। संसार में मानवता को मैं सबसे बड़ी चीज मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि हम अपनी मानवता न छोड़ें, तो बड़े सुख-सन्तोष के साथ रहकर अपनी जिन्दगी बड़े आनन्द के साथ व्यतीत कर सकते हैं। मैंने सैकड़ों बार इसको समझाने की कोशिश की, लेकिन यह मेरी आशाओं पर चलना स्वीकार नहीं करती। उस दिन

मैंने इसको मना किया, परन्तु मेरे मना करने पर भी यह नहीं मानीं, इसके विपरीत इसने मुझे उल्टा उत्तर देकर मेरा अपमान किया। तब विवश होकर मुझे इस पर हाथ उठाना पड़ा। मुझे इस पर इतना दुःख हुआ कि उसी प्रायश्चित के लिए मैंने यह तीन दिन का उपवास किया। अब मैं चाहता हूँ कि या तो यह मेरे कहने पर चलना स्वीकार करे, नहीं तो यही समझ ले कि मैं मर गया। मेरे लिए मरना और जीना समान है। मैं किसी भी समय आत्मघात कर सकता हूँ। पर आत्मघात करना पाप माना गया है। इसलिए और इसलिये भी कि मैं उसे कायरता समझता हूँ, उससे नफरत करता हूँ। दो बातें हैं, या तो आज यह मेरे आगे शपथ ले कि अब से मैं आपकी आज्ञाओं पर चलूँगी, या फिर आज ही से यहाँ से चली जाय। मैं इसकी सूरत तक देखना पसन्द नहीं करता और यदि यह जाना चाहती हो, तो इसको चाहिए कि यह मेरे नाम और अपने सौभाग्य की चूड़ियाँ भी यहीं फोड़ जाय।'

लोचन बाबू इतनी बातें झट से कह गये। तारिणी ने बहुत चाहा कि वह बीच में ही टोंककर उन्हें और अधिक कहने से रोक दे। परन्तु यकायक इतनी अधिक नई, आश्चर्यजनक और गंभीर विचारपूर्ण बातें उसके सामने उपस्थित हो गईं कि वह तुरन्त कुछ कह न सकी। इस कथन का अन्तिम वाक्य जब उसने सुना, तो वह एकदम से सन्न रह गयी। बोली—'तुम ये सब व्यर्थ की बातें क्यों बक रहे हो भैया? उस दिन जो बात हुई, वह वहीं समाप्त हो गई थी। उसका फिर से बढ़ाना तुम जैसे विचारशील पुरुष के लिए उचित नहीं। और इस सनक की भी कोई हद है कि तुमने तीन दिन का उपवास कर डाला और हम लोगों को इसकी सूचना तक न दी! मैं तुमसे ऐसी आशा नहीं करती थी।'

उस समय कला रो रही थी।

मल्लिका सोच रही थी कि उन्होंने गाँधीवाद का यह अच्छा नमूना पेश किया।

तकिये का सहारा लेकर बैठते हुए लोचन बाबू बोले—'मुझे तुम जो चाहो कह डालो तारिणी, सब तुम्हारे लिए उचित है। परन्तु मनुष्यत्व के अन्दर सनक का भी अपना स्थान है। सनक ने बड़े-बड़े काम कर दिखाये हैं। सनक तो महात्मा जी में भी रही है। ऐसी सनक को मैं मनुष्यता का गौरव समझता हूँ। मैं पागल नहीं हूँ—न मुझे कुत्ते ने काटा है। अपना भला और बुरा मैं भी समझता हूँ। मैं कोई सत्याग्रही नहीं हूँ। महात्मा कहलाने की भी मेरी इच्छा नहीं है। परन्तु हाँ, अपने बीच समझौता करने का मैंने यह अवसर अवश्य उपस्थित कर दिया है। मेरी कोई ऐसी शर्त नहीं है, जो अनुचित हो।'

लोचन बाबू में कमजोरी काफी आ गई थी। वे बातें पहले धीरे-धीरे कहना शुरू करते; परन्तु कहते-कहते जब आवेश में आ जाते, तब उनके कथन की तीव्रता बढ़ जाती थी। इस समय इतनी बातें करने के बाद एकाएक फिर वे पसीने से नहा गये। आपसे आप उनकी आँखें बन्द हो गईं।

तारिणी झट से दौड़कर पंखा उठा लायी और लोचन बाबू के ऊपर झलने लगी। कला अभी तक बैठी रो रही थी। अब उठकर उनके निकट आ गयी और पंखा उसके हाथ से लेकर स्वयं झलने लगी। दो-तीन मिनट में फिर लोचन बाबू ने आँखें खोल दीं।

अब तारिणी ने मल्लिका से कहा—'झट से डाक्टर भल्ले को तो बुला ला बिट्टी।'

मल्लिका चली गयीं।

तारिणी ने कला से कहा—'तुम जानती नहीं हो, भैया कितने क्रोधी और गंभीर स्वभाव के हैं। मैं तो समझ ही नहीं सकती कि क्यों तुम व्यर्थ में उनका जी दुखाकर उनके जीवन को संकट में डाल देती हो। जो बातें ये

कहते हैं, वे कितनी उत्तम हैं। इनके जैसा देव-स्वरूप पति पाकर तुमको तो अपने को धन्य मानना चाहिए था। यह कितने दुःख की बात है कि तुम उनके विचारों से विरोध कर आये दिन एक-न-एक दुर्घटना उपस्थित कर बैठती हो। तुमको कुछ पता भी है कि इन बातों से घर की सुख-शान्ति तो नष्ट होती ही है, बाहर भी कम उपहास नहीं होता।'

कला बोली—'मुझसे अपराध हो जाता है, यह मेरा दोष नहीं; मेरी अपनी समझ का दोष है। मैं अभागिनी हूँ, जो ये मुझको पाकर सुखी नहीं हुए। रह गई आज्ञा मानने की बात; सो मुझसे अपराध चाहे हुए हों, चाहे न भी हुए हों मैं इनसे माफी चाहती हूँ कि इनको सदा प्रसन्न रखने की पूरी चेष्टा करूँगी, चाहे उसमें मुझे कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचे। अगर मैं ऐसा जानती कि मेरे कारण इतने दुःखी रहते हैं, तो मैं ऐसा मौका कभी न आने देती। खैर, मैं एक बार माफी चाहती हूँ।'

कला यह कहती हुई लोचन बाबू के चरणों पर मस्तक टेककर रह गयी। उसके दो-चार गरम-गरम आँसू भी उन चरणों पर उस समय गिर ही पड़े।

उधर लोचन बाबू स्वयं रो पड़े।

डाक्टर भल्ले ने आकर पहले नाड़ी देखी, फिर कुनकुना दूध, फिर कुछ देर बाद अनार का रस चखने का आदेश किया। मल्लिका के मुँह से लोचन बाबू के इस उपवास की कथा सुन कर पहले तो वे विस्मित होकर हँसने लगे। फिर गम्भीर होकर बोले—'मैं सिद्धान्तवादी तथा भावुक लोगों से बड़ा घबड़ाता हूँ। वे आदमी तो बड़े जीवट के होते हैं, पर कब क्या कर उठायेंगे, इसका कुछ ठीक नहीं रहता। लोचन बाबू को मैं बड़ा सीधा-सादा आदमी समझता था। पर वे तो छिपे रुस्तम निकले! खैर, इनको गरम दूध अभी दीजिये।' और इतना कहकर डाक्टर साहब चल दिये।

२१

उमा के अन्तःकरण में एक सन्देह-कीट रेंगने लगा था। और इसका कारण था राधाकान्त का उसके प्रति उपेक्षा-भाव। वासना का भी एक नशा होता है। प्रेमी रात-दिन उसी में दीवाना रहता है—उसी में झूमा करता है। राधाकान्त पर भी कभी वासना का नशा सवार रहा करता था। उमा उसमें परेशान तक हो जाती थी। जब वह इन बातों की अधिकता देखती, उसकी तबियत में एक उलझन उपस्थित हो जाती। वह राधाकान्त से झुँझला उठती थी। वह कहती थी—'अरे आदमी बनो आदमी। अपने मुँह को, अपने स्वास्थ्य को देखो और देखो अपने चारों ओर, जहाँ तुम रहते हो, जिनमें तुम्हें रहना पड़ता है। लज्जा और शील को ताक पर रख देने और अपने सिर पर एकदम से बेशर्मी लाद देने में न तो कोई बड़प्पन है, न पुरुषार्थ। सदा यही समय न रहेगा, एक दिन ऐसा भी आयेगा, जब तुम मेरी इन्हीं बातों के लिए सोचोगे, परन्तु उस समय का सोचना किसी काम न आयेगा।'

राधाकान्त पर उमा की इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। वह इन बातों को सुना करता, सुना करता। उमा को जो कुछ भी कहना होता, जब वह सब कुछ कह लेती, तब राधाकान्त दो-चार वाक्यों में, बहुत संक्षेप में, उसका एक टालू-सा जवाब दे देते थे। कभी कहते—'उहँ, इन बातों में क्या रक्खा है? मस्ती के दिनों में भी जिसने यौवन के वैभव वारिधि में डूब कर चरम सुख का अनुभव नहीं किया, वह आदमी नहीं, उसे पायजामा समझना चाहिये।' कभी कहते—'मैं इन

सब बातों को समझता हूँ। मुझे पढ़ाओ मत मेरी रानी। इन बातों की जितनी ही चर्चा करोगी, यह नशा उतना ही और बढ़ेगा। इससे कल्याण इसी में है कि चुप रहो। जो कुछ भी होता जाय, उसे देखती भर चलो। हृदय की प्यास इस तरह कभी कम नहीं होती। इस प्रकार वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। कभी कम होने को होगी, तो अपने आप हो जायगी।'

उमा कह-कह कर हार गयी, समझा-समझाकर थक गयी, पर राधाकान्त की छेड़-छाड़ की वह आदत कम न हुई। खाना खाते, उसके निकट से निकलते, अवसर मिलने पर कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में एक बार देखा-देखी हो जाने पर राधाकान्त बिना कुछ इशारा किये, बिना कोई सलोनी बात कहे, या एक आध मिनट का भी संयोग मिलने पर बिना कोई व्यंग्य-परिहास किये मानते न थे। उसका रात-दिन का यह अभ्यास पड़ गया था। पहले तो उमा इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा करती थी। परन्तु जब उसने देखा कि उसका कहना निरर्थक है, तब उसने इस संबंध में कहना बन्द कर दिया।

यह दशा उस समय की है, जब उमा का गौना होकर आया था। तीन वर्ष तक बराबर राधाकान्त ने इसी प्रकार व्यतीत किये। तदनन्तर यह आँधी उत्तरोत्तर कम होने लगी। इधर तारा ने जन्म लिया और उधर राधाकान्त का लिप्सा-क्षेत्र भी बढ़ने लगा। रमाशरण के घर उसका विशेष रूप से आना-जाना प्रारम्भ हो गया। मस्ती का वह जीवन तो अब रह नहीं गया था। रह भी कैसे सकता था? रात को ग्यारह बजे से पहले राधाकान्त कभी घर लौटते न थे। और तब तक उमा सो जाती थी। फिर किसका मिलना। राधाकान्त भी आकर तुरन्त सो जाता था।

तारा के जन्म के कुछ महीनों, बल्कि वर्ष भर बाद तक तो यह अवस्था सब तरह से उचित ही थी। उमा भी निश्चिन्त थी। तारा जब तक चलने-फिरने न लगे, तब तक वह स्वतः ऐसा ही चाहती भी थी।

लेकिन चाहे जो कुछ हो, वह नारी थी। और कुछ न सही तो उसे राधाकान्त से प्यार तो मिलना ही चाहिये था। सो अब यह प्यार भी उससे पाती न थी। और बस, यही व्यवहार उसके सन्देह का मुख्य कारण था। वह सोचती थी—'जो आदमी निरन्तर राग-रङ्ग में ही लिप्त रहता था, वह इतनी जल्दी उससे विरक्त कैसे हो गया?'

और कौन कह सकता है उसका यह सोचना उचित नहीं था?

कार्तिकी पूर्णिमा बीत चुकी थी। अगहन मास के गुलाबी जाड़े के सुहावने दिन थे। तभी एक दिन उमा ने यह निश्चय कर लिया कि आज वह उस समय तक जागती रहेगी, जब तक 'वे' नहीं आयेंगे। और दिनों प्रायः वे ग्यारह बजे आ जाते थे। उमा ग्यारह बजे तक तो बैठी रही। उसकी आँखों में नींद नहीं थी। परन्तु जब साढ़े ग्यारह बज गये और फिर भी राधाकान्त न आये, तो उसके अन्तःकरण में एक हाहाकार-सा मच गया। वह सोचने लगी—यह बात क्या है जो ये आज अभी तक नहीं आये। सम्भव है, कुछ काम लग गया हो। लेकिन इतनी रात को उनकी नौकरी से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी काम हो नहीं सकता। तब क्या काम हो सकता है, वह सोचने लगी। परन्तु वह सोच ही क्या सकती थी। थोड़ी देर में बारह भी बज गये, पर वे नहीं आये। इसी समय उसे एक झपकी-सी लग गयी। किन्तु चिन्ता के कारण वह सो न सकी। थोड़ी देर में फिर उसकी आँख खुल गयी। उस समय घड़ी में बारह बज कर चालीस मिनट हो रहे थे। दरवाजे से सड़क पर झाँककर उसने देखा, कई व्यक्ति जा रहे थे। कुछ लोग परस्पर वार्तालाप कर रहे थे। इसी समय जीने पर कुछ आहट मालूम हुई। मालूम हुआ, वे आ गये। नीचे के किवाड़ बन्द करके वे ऊपर चढ़ आये। जैसे ही उन्होंने भीतरी किवाड़ों की साँकल खटखटाई, वैसे ही उमा ने उठकर किवाड़ खोल दिये।

राधाकान्त जब भीतर आ गये, तो उमा ने कहा—'आज बड़ी देर कर डाली। कहाँ थे अब तक?'

राधाकान्त को उमा का यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा।

मनुष्य की यह भी एक बड़ी दुर्बलता है। वह अपने भीतर के मर्म को छिपाये रखना चाहता है। वह नहीं चाहता कि कोई मर्म न जाने परन्तु जब कोई उस पर आशंका या सन्देह करके उस पर आघात करना चाहता है, तो उसे सहन नहीं होता। एक तो उसमें कमजोरियाँ रहती हैं; दूसरे वह उनको छिपाकर रहस्य के रूप में रखना चाहता है। फिर जब कोई उसके निकट पहुँचने की चेष्टा करके उनकी छान-बीन करना चाहता है, तो वह उससे रुष्ट होता और चिढ़ता है। और उसकी रुष्टता उस समय तो और भी तीव्र हो जाती है जब पूछने वाले के कथन में व्यंग्य रहता है। उमा का पहला ही प्रश्न यथेष्ट था। यदि उसने केवल इतना पूछा होता, तो यही अधिक सम्भव था कि राधाकान्त सच-सच कह देता, कि वह सिनेमा देखने गया था। परन्तु एक तो उमा ने पूछ दिया—कहाँ थे; अब तक ? और दूसरे राधाकान्त को उसके स्वर में मधुरता के स्थान पर कर्कशता भी प्रतीत हुई। फिर जब उसने इन शब्दों की व्याख्या की, उनका अर्थ लगाया तब तो वह तिलमिला उठा। अस्तु, उसने उत्तर में कह दिया—'गया था केतकी वेश्या के यहाँ !'

उमा के हृदय पर जैसे वज्रपात हो गया हो ! वह राधाकान्त की ओर देख भी न सकी।

२२

जब लोचन बाबू अपने संकल्प के अनुसार सरसैया घाट चले आये थे तब तारिणी परिवार ने यही समझा था कि वे अपने घर मौराँवा गये हुए हैं। उस समय कला भी यही समझती थी। इसलिए मौका पाकर, उसने मायके को, अपने भाई के नाम, एक पत्र लिख दिया था। उस पत्र में उसने लिखा था कि 'यहाँ अब मेरी तबियत नहीं लगती। अम्मा

तथा भाभी को देखने की बड़ी लालसा है। साल भर हो भी तो गया। भैया, अब तुम मुझे यहाँ से लिवा ले जाओ। यहाँ अब मेरा एक-एक दिन मुश्किल से कटता है।'

उधर कला ने अपने भाई को यह पत्र लिखा, इधर एक काण्ड और उपस्थित कर दिया।

दशहरे के दिन सायंकाल, जब तारिणी सरोजिनी के घर गयी हुई थी, कला को निद्रा आ गयी थी और दरवाजे को खुला छोड़कर जब मल्लिका बाहर की बैठक में राधाकान्त से वार्तालाप कर रही थी, तभी कला के सोने के कमरे में आलमारी के ऊपर यकायक बिल्ली जा पहुँची। वैसे उसके उछलने से चाहे जोर का कोई शब्द भी न होता; परन्तु जब वह ढके हुए भोजन के बर्तनों को खोलने लगी, तो ढक्कन के गिरने की आवाज से एकाएक कला की आँख खुल गयी। बर्तन फिर से ढकने, बिल्ली को भगाने और कमरे के किवाड़ बन्द कर लेने के इरादे से कला झट उठ खड़ी हुई, पर बिल्ली तब तक कूद कर कमरे के बाहर चली गयी। खाने का बर्तन ढककर, कला जब कमरे के खुले किवाड़ को बंद करने लगी, तो उसे मालूम हुआ कि बाहरी किवाड़ भी खुले हैं। उन किवाड़ों को बंद करने के लिए वह दरवाजे की ओर बढ़ गयी। परन्तु वहाँ पहुँचने पर उसे स्पष्ट सुन पड़ा, बैठक में राधाकान्त कह रहा है—'मल्लिका मैं तुम्हारे सामने इस समय सचमुच एक अपराधी के रूप में हूँ।'

कला वहीं खड़ी हुई उसी ओर कान देकर सब कुछ सुनती रही। प्रायः कुछ अस्पष्ट शब्द ही उसके कानों में पड़ जाते थे। थोड़ी देर में उसने सुना—'यह प्यास आज की नहीं है।'

अब उसे समझने को कुछ भी शेष नहीं रहा। अपनी समझ और कल्पना के अनुसार दो-चार शब्दों के इस लिफाफे से ही वह 'खत का मज़मून' भाँप गयी। एक बार उसके जी में आया, वह और भी आगे बढ़ जाय और इसके आगे और क्या-क्या बातें होती हैं, उन्हें भी सुन ले।

पर इसके लिए उसका हृदय तैयार न हुआ। जो मल्लिका बात-बात में हँसी किया करती है, जिसके कारण प्रायः वह लांछित और अपमानित तक हुआ करती है, वह वास्तव में कैसी है, यह जानकर वह मन ही मन बड़ी प्रसन्न हुई। वह यह भी सोचने लगी—'इतना ही कौन कम है! पहले राधेबाबू ने क्षमा माँगी, फिर बोले—'यह प्यास आज की नहीं है।' इन बातों का जो कुछ मतलब होता है, उसमें अब बाकी क्या रह गया!······चलो, अब सब ठीक है। तभी मैं अपने मन में सोचा करती थी कि ऐसी क्या बात है जो राधे बाबू इन लोगों से बड़ा हित दिखलाया करते हैं। अब सारा भेद खुल गया। अच्छा तो है, अगर गर्भ रह जाय, तो और भी मजा आये।

इस प्रकार कला उस दिन की इस घटना को थोड़ा-बहुत जानती थी। कई बार उसने सोचा कि इन सब बातों को वह तारिणी से प्रकट कर दे। किन्तु एक तो उस दिन के बाद मल्लिका का उसके प्रति कोई अपमानजनक व्यवहार नहीं हुआ था, दूसरे वह इस मामले को दबा ही रखना चाहती थी। इसमें उसका अपना स्वार्थ भी था। उसने सोचा कि अगर इन बातों का भण्डाफोड़ हो गया, तो इस परिवार की शान्ति में बड़ी बाधा पड़ेगी। मालूम नहीं, कौन-कौन बातें उठ खड़ी हों और तब यह भी संभव है कि मुझे लौट ही जाना पड़े। इन्हीं सब कारणों से उसने इन बातों को अभी तक अपने हृदय में ही रहने दिया था।

किन्तु लोचन बाबू से पिट जाने के बाद स्थिति बदल गई। उसने घर को पत्र भेज दिया और उसे इस बात का विश्वास हो गया कि अब दो-चार दिनों में कोई-न-कोई उसे लिवाने के लिए उसके नैहर से आता ही है। इसलिए इस मामले को छिपा रखने के लोभ को वह संवरण न कर सकी। उसके लिए यह अब असम्भव हो गया। उसकी आन्तरिक कुटिलता, पिशाचिनी बनकर, अट्टहास कर उठी!

लोचन बाबू के चले जाने के दूसरे दिन कला ने तारिणी से कहा—'जीजी वकील साहब के यहाँ मुझे भी ले चलो।'

तारिणी बोली—'अच्छा तो है आज ही चलना। मुन्ना अभी छोटा है, इसलिए मैंने अपनी ओर से कभी तुमको साथ चलने के लिए नहीं कहा था। तुमने भी कभी इच्छा नहीं प्रकट की। नहीं तो वहाँ चलने में मुझे खुद भी कम प्रसन्नता नहीं होती।'

आज कला तारिणी के साथ वकील साहब के घर तो गयी, पर उसकी इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकी। सरोजिनी से एकान्त में वार्तालाप करने का उसे अवसर नहीं मिला। तब दूसरे और तीसरे दिन भी वह तारिणी के साथ उनके घर जाती रही।

तीसरे दिन की बात है। सरोजिनी के घर जब तारिणी पहुँची, तब तारिणी और कला को आदर के साथ बैठा लेने के बाद सरोजिनी ने कहा—'बिट्टी के लिए वर खोजने के संबंध में मैंने उनसे कहा था। उन्होंने एक वर खोज निकाला है। वे अब आने ही वाले हैं, उनसे बातें कर लेना। वे कहते हैं कि सब तय हो जायगा, घबराने की कोई बात नहीं है।'

तारिणी इस बात को सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। बोली—'गुइयाँ, अब जो कुछ हैं, वे ही तो हैं। वे नहीं करेंगे, तो कौन करेगा।'

वकील साहब कचहरी से लौटकर, कपड़े बदलकर, जब जलपान कर चुके, तो तारिणी उनके निकट जा पहुँची। वकील साहब—'आओ भाभी, बैठो। इधर निकल आओ।'

परन्तु तारिणी किवाड़ की अर्ध ओट में दरी बिछे फर्श पर ही, बैठ गयी। आँखों के ऊपर तक साड़ी का अवगुण्ठन आवृत्त हो गया। क्षण भर तक अधोमुखी दृष्टि से तारिणी चुपचाप बैठी रही।

पान खाते हुए वकील साहब बोले—'मल्लिका से लिये वर खोजने को घर में मुझसे कहा गया था। वह मिल गया है। अब देखना यह

है कि आप लोग उसे कहाँ तक पसन्द करते हैं। केवल मेरे पसंद करने की बात तो नहीं है।'

साड़ी मस्तक पर खींचती हुई तारिणी कहने लगी—-आप लोगों की सम्मति ही मेरी सम्मति है।'

कमरे में टहलते हुए वकील साहब बोले—'उमर तो उसकी तीस वर्ष से कम नहीं है। सम्भव है, पैंतिस तक हो। मैं कोई बात छिपाना नहीं चाहता। पर तन्दुरुस्ती देखते हुए वे तीस वर्ष से अधिक के नहीं मालूम होते। उनकी पूर्व पत्नी का स्वर्गवास हुए कई वर्ष हो गये। प्रारम्भ में, उस समय, उन्हें इतना दुःख हुआ कि उन्होंने यह तय कर लिया था कि अब मैं द्वितीय विवाह न करूँगा। परन्तु अब हम लोगों के समझाने-बुझाने से किसी प्रकार तैयार हो गये हैं। देखने में बड़े सुन्दर स्वभाव के बड़े सरल और घर के बड़े सम्पन्न हैं। इस जिले में भी उनकी खेतीबारी है। कई हजार रुपये वार्षिक की आय है। दहेज़ तो वे न लेंगे, लेकिन बरात की खातिरदारी का उत्तम प्रबन्ध करना पड़ेगा। और उसमें हजार-डेढ़-हजार रुपया अवश्य खर्च होगा। सुशिक्षित हैं और अँगरेजी एफ० ए० तक पढ़े हैं। पुरवा जिला उन्नाव के निवासी हैं।'

दृष्टि को कुछ ऊँचा उठाकर तारिणी ने उत्तर दिया—'और तो सब ठीक है, परन्तु हैं कल्याण भार्य। हमको तो कुमार पात्र चाहिये। पैंतीस तक की उमर तो आप खुद बतलाते हैं, सम्भव है, और भी ज्यादा हो।'

वकील साहब ने दृढ़तापूर्वक कहा—'ऐसी बात नहीं है भाभी। मैंने जो बात कह दी, उसमें फर्क नहीं पड़ सकता। पैंतिस से ज्यादा उमर हो नहीं सकती।'

तारिणी बोली—'क्या आप कभी उन्हें यहाँ ला सकते हैं? मैं उन्हें देखना चाहती हूँ।'

'अच्छी बात है। आप इसी प्रकार बराबर दर्शन देती रहें। शीघ्र ही

किसी दिन मैं उन्हें ले आऊँगा। कचहरी में अक्सर उनसे भेंट होती रहती है।'

तारिणी ने जरा-सा मुसकराकर कह दिया—'मैं तो रोज ही आती हूँ।'

वकील साहब पहले हँस पड़े, फिर बोले—'आती हो, इसको क्या मैं जानता नहीं हूँ ! मेरे धन्य भाग जो आप मुझ पर इतनी कृपा रखती हैं। फिर भी मैंने कह इसलिए दिया कि कहीं ऐसा न हो कि किसी दिन कार्यवश आप न आ सकें और उसी दिन मैं उन्हें ले आऊँ, क्योंकि उनसे कोई बात कहकर तो मैं उन्हें ले न आऊँगा। और एक बार अवसर चूक जाने पर फिर ऐसा मौका हाथ आये, सम्भव है, न भी आये।'

तारिणी ने सिर झुकाकर कहा—'हाँ, यह तो आप ठीक कहते हैं।'

थोड़ी देर बाद जब तारिणी उठकर चलने लगी तो वह बोली—'तो वकील साहब, अब मैं आपही के भरोसे रहूँगी।'

वकील साहब कुछ बोले नहीं। पर जब तारिणी चल दी, तो उसकी ओर अचंचल दृष्टि से देखते रह गये।

जब इधर ये बातें हो रही थीं, ठीक उसी समय कला ने सरोजिनी से कहा—'जीजी, एक बात मैं तुमको बताना चाहती हूँ, परन्तु कहते डर लगता है।'

उत्सुकता के साथ सरोजिनी बोली—'निस्संकोच भाव से कहो। किसी को भी पता तक न चलेगा।'

कला ने तारिणी की ओर संकेत करके कहा—'जीजी से भी न कहने की बात है। सुनेगी तो बिगड़ेंगी, मन-ही-मन यह सोचकर कुढ़ेंगी कि पहले मुझसे पूछ क्यों नहीं लिया।'

सरोजिनी ने धीरे से कहा—'तब उसे कह ही डालो झट से। विलंब न करो। मैं जब इशारा कर दूँ, तो चुप हो जाना।'

सरोजिनी की इस युक्ति और उसके ढंग पर विचार करते हुए कला ने यही अनुभव किया कि सचमुच वह तारिणी से यह बात न कहेगी। उसने कहा—'बात दशहरे के दिन की है। मैं तो न आ सकी थी, जीजी आयी थीं। तुम्हारे यहाँ उस दिन गाना-बजाना हुआ था। काम अधिक पड़ा था, मुझे झपकी लग गयी थी। इलमारी पर पूरी-तरकारी रक्खी थी। एकाएक बिल्ली उछलकर जा पहुँची, तो बरतनों की खड़खड़ाहट सुनकर मैं जग गयी। उसे भगाने को मैं जो कमरे के बाहर तक गई तो देखती क्या हूँ, दरवाजे के किवाड़ खुले रह गये हैं! उन्हें बन्द करने जो किवाड़ों के निकट गयी, तो सुनती क्या हूँ, बाहरी बैठक के भीतर राधाकान्त एकान्त पाकर मल्लिका से धीरे-धीरे बातचीत कर रहा है। ऐसे समय में मैं वहाँ कैसे जाती। कानों पर हाथ धर कर मैं चुपचाप लौट आयी।'

विस्फारित दृष्टि से सरोजिनी बोली—'बड़ा गजब हुआ, अब !!'

उत्साह के साथ कला ने कहा—'सयानी लड़की घर में बैठाल रखने का यही फल होता है। भगवान् न करे, कि कुछ अनरथ हुआ हो, लेकिन कौन कह सकता है कि कोई बात नहीं है?'

आश्चर्य के साथ सरोजिनी ने पूछा—'तो यह बात बिल्कुल सच है—तुम्हारी आँखों ने देखी है।'

कला ने विश्वास दिलाते हुए कहा—'बस जीजी, जितना मैंने कहा उतना तो बिल्कुल सच है। बाकी अन्दाज से समझ लिया जा सकता है।'

सरोजिनी ने पान देते हुए उत्सुकतापूर्वक पूछा—'अच्छा, उस बात-चीत में तुमने क्या-क्या सुना?'

कला ने आश्चर्य का भाव प्रकट करते हुए उत्तर दिया—'जीजी, तुम भी क्या बात पूछती हो! भला उस समय की बातचीत मैं तुमको बता भी सकती हूँ।'

'अच्छा तो फिर कितनी देर बाद बिट्टी लौटी थी ?'

'करीब घण्टे भर बाद !'

'उसकी चेष्टा कैसी थी उस समय ?'

'मुँह उतरा हुआ सा था। बदन पर पसीना साफ झलक रहा था।'

सरोजिनी विचार में पड़ गयी तो कला फिर बोल उठी—'वैसी बात न होती, तो मैं कहती ही काहे को ?'

एक विश्वास दिलाती हुई सी सरोजिनी बोली—'अब तो कल्याण इसी में है कि जितनी जल्दी हो सके उसकी शादी कर दी जाय।'

'हाँ जीजी, बस, बात तो ऐसी ही है।'

इसी समय तारिणी आ गयी। कला और सरोजिनी दोनों चुप हो गयीं।

तारिणी जब शीतलपाटी की चटाई पर बैठ गयी, तो सरोजिनी ने पूछा—'क्या बतलाया उन्होंने ?'

'और तो सब ठीक है,' तारिणी ने कहा—'परन्तु वर की उमर सुनकर मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरी फूलों की रानी-सी बिट्टी के लिए क्या दुःख ही दुःख बदा है।......मैंने उनसे कह दिया है कि उन्हें किसी बहाने यहीं कमरे में बुला लें। जब तक मैं उन्हें देख न लूँगी, तब तक निश्चित रूप से कुछ कह न सकूँगी।'

'उन्होंने इसका क्या उत्तर दिया—' सरोजिनी ने पूछा।

'वे इस पर राजी हो गये,' तारिणी बोली—'अब जिस दिन मौका लगेगा, साथ ले आयेंगे।'

सरोजिनी बोली—'देख लो, देखकर विचार स्थिर कर लो। परन्तु जो कुछ भी करो, जल्दी कर डालो। सयानी लड़की को घर में बैठाल रखने का परिणाम अच्छा नहीं होता।'

'हाँ यह तो तुम ठीक कहती हो जीजी', तारिणी गम्भीरतापूर्वक बोली—लेकिन मेरी बिट्टी जिनकी सन्तान है, वे देवता थे, मामूली आदमी

नहीं थे। मेरी सास भी, सुनती हूँ, पातिव्रत धर्मपालन में सती-सावित्री के समान थीं!'

'जिस समय तारिणी ने उपर्युक्त बात कही, उस समय कला सरोजिनी की ओर देख रही थी और सरोजिनी कला की ओर।

२३

जिस दिन कला ने सरोजिनी से दशहरे के दिन की घटना का अपनी इच्छानुसार वर्णन किया, उसके दूसरे दिन ही सबेरे लोचन बाबू आ गये। उनकी अस्वस्थता के कारण उस घर का वातावरण ही अत्यधिक गम्भीर हो गया। लोचन बाबू दो-तीन दिन तक चलने-फिरने के योग्य न रह गये थे। और इसी कारण तारिणी भी सरोजिनी के घर जा न सकती थी। परन्तु वह वकील साहब को यह वचन दे आयी थी कि मैं कुछ दिनों तक रोज ही आऊँगी।

पाँच बजे के लगभग सरोजिनी ने तारिणी को लिवा लाने के लिये अपनी नौकरानी भेज दी। परन्तु ऐसे समय तारिणी जा कैसे सकती थी! उसने उसे समझाकर कह दिया—'जीजी से कह देना, भैया की तबियत खराब हो गयी है। इस कारण मैं दो दिन न आ सकूँगी।'

जब नौकरानी चलने लगी तो फिर बोली—'यह भी कह देना कि वकील साहब से भी कह दें, भूलें नहीं।'

नौकरानी जा ही रही थी कि राधाकान्त आ गये। तारिणी ने कहा—'चलिये, वहीं बाहरी बैठक में आपसे बात कर लूँ। आज भैया की तबियत खराब है।'

राधाकान्त चिन्तित होकर बोले—'क्या कहा, तबियत खराब है!'

'हाँ खराब तो है, पर वैसी अधिक नहीं। चिन्ता की कोई बात नहीं है। यों ही मामूली-सा बुखार आ गया था'—तारिणी ने कहा।

बैठक खोलकर, चिक के परदे गिराकर तारिणी ने राधाकान्त से कहा—'बैठिये' और वह खुद भी कोने में पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गयी।

राधाकान्त बोले—'कहिये, हमारे लायक कोई काम तो नहीं है! भाई जी लड़के की तलाश में थे, उसका क्या हुआ।'

'इधर तो दो दिन से उनकी तबियत ही खराब है। उधर कई लड़के देखे भी थे। परन्तु कोई तै नहीं हुआ। इधर वकील साहब ने भी, शायद आप उन्हें जानते भी हों, एक लड़का देखा है। कोई चिन्ता की बात अब नहीं है। शीघ्र ही कोई-न-कोई तै हुआ जाता है। हाँ, एक जरूरी बात आपसे कहनी है। और वह यह कि कुछ रुपये का प्रबन्ध अब कर दीजिये। यह काम आप ही से हो सकेगा। आप उनके साथ रहे हैं, कौन मकान किस हैसियत का है, आपको मालूम ही है। किसी छोटे-से मकान को रहन रखकर तीन हजार रुपया ले लीजिये। मेरी राय में कुली बजार वाले मकान को रेहन रखना उचित होगा।'

राधाकान्त ने विस्मय का भाव प्रकट करते हुए कहा—'क्या कहा, कुली बाजार वाला मकान?'

'अरे! आपको तो ताज्जुब हो रहा है,' अमल धवल दन्त-पंक्ति झलकाती हुई तारिणी कहने लगी—'लेकिन इसमें ताज्जुब की क्या बात है? हमारे मकानों में वही एक सड़ियल है।'

राधाकान्त क्षण भर तक मौन रहकर कुछ सोचते रहे। फिर बोले—'अच्छी बात है, उसी को रेहन रखना ठीक होगा।......इस काम को मैं दो-चार दिन में ठीक कर दूँगा।'

तारिणी उठने लगी तो बोली—'अब आज और अधिक देर बैठकर वार्तालाप न कर सकने के लिए मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ।'

राधाकान्त भी उठकर खड़े हो गये। जब वे चलने लगे, तो तारिणी ने कहा—'आज के लिए कुछ खयाल न कीजियेगा राधे बाबू। अरे,

आज आपको पान खिलाना भी भूल गयी। अच्छा, ठहरिये, मैं अभी लिये आती हूँ ?'

राधाकान्त बोले—'रहने दीजिये इस समय। मैं वहाँ बाहर खा लूँगा।'

'वाह! ऐसा भी कहीं हो सकता है!' कहती हुई तारिणी भीतर चली गयी। राधाकान्त फिर कुर्सी पर बैठ गये।

भीतर जाकर तारिणी ने मल्लिका से कहा—'राधे बाबू को दो बीड़े पान लगाकर झट से दे तो आ। अभी वे खड़े हैं।'

मल्लिका पान लगाकर ले गयी। जब राधाकान्त के सामने पहुँची, तो गम्भीर होकर अर्धामुखी दृष्टि करके बोली—'नमस्कार'। और पान इलायची की तश्तरी उनके आगे कर दी।

राधे बाबू ने नमस्कार करके दो बीड़े पान उठा लिये। पान खाकर फिर दो इलायची भी ले लीं और चल खड़े हुए। किन्तु जब मल्लिका भी लौटने लगी, तो कहने लगे—'तुम्हारा पढ़ना-लिखना विधिवत् चल रहा है न ?'

मल्लिका नमित दृष्टि से बोली—'कहाँ ? वह तो आपकी कृपा से दशहरे के बाद से बन्द है न ?'

राधाकान्त समझ गये इस उपालम्भ में उसे कितनी गहरी चोट दी जा रही है। तब उसके मुँह से निकल गया—'मल्लिका, जान पड़ता है तुमने अब भी मुझे क्षमा नहीं किया! पाप की ज्वाला से क्या मुझे जीवन भर जलना पड़ेगा ?' उत्तर में मल्लिका कुछ नहीं बोली, उसने अपनी दृष्टि नीची कर ली। तब राधाकान्त आगे बढ़ गया।

राधाकान्त जब सड़क पर आये, तब उनके सामने प्रश्न था कि वे किधर जायें। परन्तु इस विषय में उनको अधिक नहीं सोचना पड़ा। तारिणी ने जो काम सौंपा था, वह उनके सामने था ही। अस्तु, वे सीधे सेठ कृष्णगोपाल के यहाँ जा पहुँचे।

सेठजी की मोटर दरवाजे पर खड़ी मिली। मालूम हुआ कि वे घूमने जा रहे हैं। राधाकान्त ने पहले तो सोचा, इस समय कहना ठीक न होगा। परन्तु फिर कुछ विचार करके यही स्थिर किया कि तब आज कुछ देर तक इनके साथ ही रहना उचित होगा। यही निश्चय करके वे उनके मकान के भीतर, जहाँ सेठ साहब एक कमरे में खड़े, आदमकद आइने के सामने, पगिया बाँध रहे थे, जा पहुँचे।

सेठजी ने जो देखा, राधे बाबू हैं, तो बोले—'कहिये आडिटर साहब, चलते हैं, घूमने ?'

राधाकान्त ने उत्तर दिया—'आया तो मैं आपके ही मतलब से था, परन्तु जब आप घूमने के लिए जाने को उद्यत हैं, तो चलिये, मैं भी चलता हूँ।'

पान-इलायची की तश्तरी राधे बाबू के सामने करते हुए सेठ जी बोले— 'तो मतलब की बात पहले कह डालिये। घूमने के लिए जाना मुल्तबी करने में क्या लगता है !'

'लेकिन वह बात इतनी जल्दी की तो है नहीं'—राधाकान्त ने इलायची उठाते हुए कहा—'जो झट से आपके गले के नीचे उतार दूँ। वह तो इत्मीनान से बैठकर सुनने और विचार करके अपना निर्णय प्रकट करने की है।

'अच्छी बात है,' सेठ साहब जरा जोर से बोले—'अरे, तिनगू !

तिनगू झट से आ गया।

'ड्राइवर से कह दो, आध घण्टे बाद चलना होगा। एक दोस्त साहब आ गये हैं, उनसे कुछ काम है।'

तिनगू 'बहुत अच्छा' कहके चला गया।

सेठजी की पगिया बँध चुकी थी। गद्दी पर बैठकर बोले—'आप इधर ही निकल आइये, वह तकिया ले लीजिए और आराम से बैठ जाइये।'

राधाकान्त तदनुसार और निकट आकर कहने लगे—'एक मकान फँसा है, कुली बाजार में। बहुत खराब हालत में है, लेकिन जगह अच्छी है। वह आलीशान इमारत वहाँ बन सकती है कि देखनेवालों की टोपियाँ सिर से खिसककर नीचे आ रहें!'

'अच्छा, ऐसी बात है?'

'हाँ, तभी तो पहले आपसे कहने आया हूँ। आपने बहुत दिनों से कह भी रक्खा था। अभी बात उठी ही है, किसी को कुछ भी मालूम नहीं है। एक बेवा मुसम्मात के कब्जे में है। उसे लड़की के विवाह के लिए तीन हजार रुपये की जरूरत है। मगर अभी वह बेचना नहीं चाहती, अभी तो रेहन रक्खेगी। परन्तु यह निश्चय है कि उसे वह फिर छुड़ा न सकेगी! एक बार चंगुल में आ जाने-भर की ज़रूरत है, फिर तो उसे अपनी ही समझ लो। सूद भी वह काफी देगी। मैंने कह दिया है रुपया सैकड़ा से कम पर तै न हो सकेगा।'

'तो क्या तुमने उससे बात कर ली है?'

'मैंने बात तो नहीं कर ली है, पर जो कुछ मैंने कहा है, वह पक्का है। जिसने मुझसे बतलाया था, उसी के जरिये से मैंने कहला दिया है!'

'तो वहाँ से क्या जवाब मिला?'

'यही कि जैसा चाहें करें, परन्तु तै जल्दी करा दें, मुझे रुपये की जल्दी जरूरत है।'

'लेकिन इसमें कहीं कोई गोलमाल तो नहीं है, आप पता लगा लीजिये। बेवा मुसम्मातों की जायदादों में बड़े बखेड़े कभी-कभी पड़ जाते हैं।'

'कोई बखेड़े की बात न होगी, सेठ जी। आप मुझ पर विश्वास कीजिए।'

'अच्छी बात है। तो फिर मकान आज ही न देख लिया जाय?'

'हाँ-हाँ, आज ही देख लीजिये।'

'अच्छा तो फिर पहले कुछ जलपान कर लीजिये, मैं तो अभी-अभी कर चुका हूँ। अरे तिनगू!'

'आया हुजूर,' तिनगू ने जवाब दिया और वह आ भी गया।

सेठ जी ने अलग ले जाकर कहा......'तीन आने की मिठाई और दो आने का नमकीन बाबू को ले आ। गरम-गरम लाना।'

'बहुत अच्छा' कहकर तिनगू चला गया।

२४

तीसरे दिन लोचन बाबू की तबियत अच्छी हो गई थी। दस बजे खाना खाकर वे सुचित होकर अपनी चारपाई पर बैठे ही थे कि मालूम हुआ कला का भाई आ गया है। तारिणी ने उसे बड़े आदर से लिया। कला रसोई बना रही थी। तारिणी बोली—'रज्जन बाबू, झट से नहा तो आओ, खाना तैयार है। भाभी को व्यर्थ ही में बैठा रहना पड़ेगा।'

रंजन बोला—'लेकिन मैं तो गंगा-स्नान करने जाऊँगा।'

तारिणी प्रसन्न हो गई। बोली—'अच्छा बाबू, तो फिर जलपान तो किये जाओ। देर में लौटोगे, भूख न लग रहेगी?'

तारिणी ने एक कटोरी में मिठाई और गिलास में पानी उसके आगे रख दिया। मल्लिका पान लगाने बैठ गई।

जलपान करके, पान खाकर, रज्जन तो धोती बगल में दाबकर गंगा नहाने को चला गया, पर तारिणी कला के निकट जाकर बोली —'जान पड़ता है, उस दिन तुमने इनको चिट्ठी लिख दी थी।'

कला अप्रतिभ होकर बोली—'चिट्ठी-विट्ठी मैंने कुछ नहीं लिखी।'

'चिट्ठी लिखी तो तुमने जरूर है भाभी,' तारिणी कहने लगी—'चाहे तुम इसको स्वीकार न करो। मैं इसका कुछ बुरा नहीं मानती। मैं खुद भी तुम्हारी जैसी स्थिति में होती, तो अवश्य ऐसा ही करती।

लेकिन, इतना मैं फिर कह देना चाहती हूँ कि जब सब बातें उस दिन तै हो चुकी हैं, तुम उनके आगे रोकर उनसे माफी माँग चुकी हो, साथ ही यह भी प्रतिज्ञा कर चुकी हो कि उनके आज्ञानुसार चलोगी, तब फिर एक नई बात पैदा करने की जरूरत नहीं थी। खैर जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं खुद नहीं चाहती कि मेरे कारण किसी को कष्ट हो। जब तुम जाना ही चाहती हो, तो तुमको कौन रोक सकता है? किसी तरह से भैया को समझा बुझाकर उस दिन शान्त कर पाई थी। पर जब तुम्हारी आत्मा में ही द्विविधा है, तब कोई क्या कर सकता है।'

कला सुनती रह गई, कुछ बोली नहीं। तारिणी भी वहाँ से चली आई।

भीतर का कल्मष दबा रखने की चेष्टा मनुष्य भले ही करे, परन्तु वह कभी उसमें कृतकार्य हो नहीं सकता। जब मुँह लटकाकर कला कहने लगी—चिट्ठी-विट्ठी मैंने कुछ नहीं लिखी, तब उसकी इस रूप-रेखा से ही तारिणी को सन्देह हो गया कि इसने चिट्ठी लिखकर ही अपने भैया को बुलाया है। उसके पश्चात् जब तारिणी इतनी बातें कह गई, और जब इन बातों को भी कला अपने भीतर उतार गई, तब तो तारिणी को इस पर पूर्ण रूप से विश्वास हो गया। पहले जो कुछ संशय था, अब वह भी दूर हो गया। और तब उसके शरीर का रक्त-स्रोत खौल-खौल कर, उद्वेलित हो-होकर उसकी नस-नस में दौड़ने लगा। वह शान्त स्थिर रहने और अपने आपको भीतर ही भीतर कसकर बाँध रखने की भरपूर चेष्टा करती, परन्तु उसका अन्तःकरण कला की कुटिलता से चिता की भाँति लपटें उड़ा-उड़ाकर जलने लगता।

रेवड़ी टूँगती हुई मल्लिका आकर बोली—'भाभी, तुम अकारण क्यों दुःखी होती हो। जब वे हम लोगों के साथ रहना नहीं चाहतीं, तब उन पर दबाव डालने की ऐसी आवश्यकता ही क्या है?'

तारिणी ने उस समय एक बार मल्लिका को आपाद मस्तक देखा।

देखा, उसका नव-विकसित यौवन लहरें ले रहा है। देखा, उसके नयन-कटोरों का मदिर अवलोकन जगत् के लिए हलाहल से कम विनाशकारी नहीं है। तब तारिणी की अन्तर्ज्वाला और भी तीव्रता के साथ जल उठी। बोली—'तेरे ही कारण मुझे यह सब सोचना पड़ता है। अधिक-से-अधिक दो महीने की बात है। इस बीच में अवश्य ही तू दूसरे की हो जायगी। मैं सोचती थी, यदि इतने दिन यह और भी रह जाती, तो कितना अच्छा होता! अरे, कोई काम अटक थोड़े ही रहेगा। परन्तु जब इस घर में पास-पड़ोस की दस अन्य स्त्रियों को देखूँगी, तब एक इसको न देखकर मुझे कितना दुःख होगा! कहा-सुनी और लड़ाई-झगड़े तो हुआ ही करते हैं। घर-घर यही राग है। परन्तु काम-काज में चार आत्मीय स्वजनों के बिना अच्छा नहीं लगता।'

तारिणी की बात का सम्बन्ध मल्लिका के विवाह से था, इसलिये इच्छा होने पर भी लज्जा के कारण मल्लिका ने कुछ कहना उचित नहीं समझा।

इस समय कला की दशा और भी विचित्र थी। यदि वह सरोजिनी से उस दिन की बातें न बतला आती, तो यही अधिक सम्भव था कि वह, आज, जब तारिणी ने उससे इतनी बातें कहीं, मायके जाने से इनकार ही कर देती। परन्तु जो आग वह लगा चुकी थी, अब उसे उसका तमाशा देखना था। मनुष्य जब एक अपराध कर बैठता है, तब उसके लोचन और अपने बचाव के लिए वह ऐसे उपायों की भी शरण लेता है, जिनमें उसे अपराध पर अपराध करने पड़ते हैं। कला भी सरोजिनी से उस दिन की बातें नमक मिर्च मिलाकर जड़ चुकी थी। अब उसके लिए इस घर को इसी समय छोड़ देने में अधिक सन्तोष और प्रसन्नता है। वह जानती है कि जहाँ तारिणी सरोजिनी के घर गयी, वहाँ सरोजिनी उन सब बातों को उनसे कहे बिना न रहेगी। परन्तु जो बात वह उस समय सोच रही है, क्यों नहीं सोची उस समय जब उसने सरोजिनी से

कहना चाहा था, यह बात भी कम विचारणीय नहीं है। लेकिन सच बात तो यह है कि कला इन सब बातों को सोच-सोच कर अपने ही कलुष को अपने सामने ला रही है। यदि उसका अनुमान यथार्थ ही होकर रहे और सरोजिनी उन बातों को तारिणी से प्रकट भी न करे, और यह घटना एकदम छिपी ही पड़ी रहे, तो इसमें कला के लिए प्रसन्नता की कौन सी बात है? जिस समय उसने सरोजिनी से ये बातें की थीं, उसी समय उसने मन ही मन यह तै कर लिया था कि यदि बातें बढ़ीं और सरोजिनी के सामने तारिणी से मुझे इसका भेद खोलना ही पड़ा, तो उस समय वह चूकेगी नहीं। जो-जो बातें उसने अपने कानों से सुनी हैं और जैसी परिस्थिति उसने अनुभव की है, सभी कुछ वह बतला देगी। वह सोचती है कि यदि ऐसा अवसर आ ही गया, तो इसमें चोरी क्या है, कोई उसका क्या बिगाड़ लेगा?

लेकिन वह इस समय इस काण्ड का विस्फोट करना नहीं चाहती थी। इस सम्बन्ध में जब वह उस समय की कल्पना करती, जब उसकी कही हुई बातें और अनुमान झूठ साबित होंगे, तो उसका भीरु हृदय काँप उठता था। अन्तःकरण से वह चाहती यही थी कि जो कुछ होना हो, वह उस समय हो, जब मैं यहाँ से चली जाऊँ। इसीलिए न जाने की इच्छा होते हुए भी, अपने ही अपराध के भय से, उसने चला जाना ही स्थिर कर लिया था। इसीलिए तारिणी की बातों का जवाब वह देती भी, तो कैसे देती।

रज्जन साढ़े बारह बजे लौटकर आया, तब तक तारिणी, मल्लिका और कला उसकी प्रतीक्षा में बैठी रहीं। आने पर रज्जन को भोजन करा के सबने भोजन किया। थोड़ा आराम कर लेने के अनन्तर फिर वे गृह-कार्य में लग गयीं। शाम होने पर रज्जन ने तारिणी के निकट जाकर कहा—'दिदिया, मैं बहिन को लेने के लिए आया हूँ। कल सबेरे की ट्रेन से जाऊँगा।'

तारिणी बोली—'तुम्हारे आने से ही भैया, मैं यह बात जान गयी थी !

२५

कला को मायके में आये हुए एक मास बीत गया। नयी साड़ी और रेशमी चादर पहन-ओढ़कर वह अपने पड़ोस के घर-घर को दिखला आयी थी। मल्लिका का ब्याह पक्का हो गया है, यह भी वह सुन चुकी थी। बार-बार उसकी इच्छा कानपुर पहुँचने की उठती और अन्दर-ही-अन्दर मर जाती थी। नये-नये पकवान उड़ाने की लालसा किसी तरह पूरी न होगी यही सोच-सोच कर वह हाथ मलती रह गयी थी।

कला के पड़ोस में गोकुल प्रसाद नाम के एक महाशय रहते थे। अवस्था तो उनकी पचीस तीस वर्ष की थी, परन्तु वे उस समय विधुर थे। उनकी पत्नी का देहान्त हुए कई वर्ष हो चुके थे। परन्तु फिर उनका दूसरा विवाह नहीं हो सका था।

इसका एक कारण था। उनकी स्त्री का स्वर्गवास अफीम खाने से हुआ था। जनश्रुति थी कि वह सुन्दरी तो थी, पर गोकुल बाबू उसे चाहते नहीं थे। उनका सम्बन्ध एक वेश्या से था। जब वह स्त्री गोकुल बाबू का प्यार न पा सकी, तो निराश होकर उसने आत्मघात कर लिया। गोकुल बाबू के पिता पुलिस में सब-इन्स्पेक्टर थे। इस कारण वे काफी सम्पत्ति छोड़ मरे थे। उनका मकान पक्का बना था। उनके घर में उनकी अन्धी और बहरी वृद्धा माँ को छोड़कर दूसरा कोई नहीं था। चचेरे भाई लोग थे, पर वे अलग रहते थे। कला जब पड़ोस के सभी घरों में गयी, तब वह गोकुल बाबू के घर न जाती, यह कैसे हो सकता था! तीन वर्ष की एक भतीजी उसके साथ थी। बालों में सुवासित तेल और मुख पर उसको गोरा कर देनेवाला सुवासित स्नो लगाना वह कानपुर से सीख ही आयी थी। बाल घुमाकर क्लिप लगाने की विधा वह पहले

से ही जानती थी। वर्ण की वह कुछ श्याम अवश्य थी, लेकिन उसके शरीर की बनावट बड़ी मोहक, बड़ी लोचदार थी और उसके नयन तो बहुत ही आकर्षक थे। गोकुल बाबू से उसका नया परिचय न था। उनसे वार्तालाप करने में उसका रोआँ-रोआँ खिल उठता था। आज जब कला उनके घर गयी, तो गोकुल बाबू ने, उस पर नजर पड़ते ही कह दिया—'आज तो तुम बड़ी अच्छी लगती हो कला! मेरे बड़े भाग्य, जो तुमने यहाँ आकर और मुझे अपनी झलक दिखाकर कृतार्थ तो किया!'

कला बोली—'बोली-ठोली न बोलो। एक जरूरी काम से आई हूँ। उस काम को तुम्हें करना ही पड़ेगा।'

'ऐसी जल्दी क्या है,' गोकुल बाबू ने कहा—'इतमीनान से बैठो, काम तो होता ही रहेगा।'

'नहीं, पहले वादा करो, मेरी सौगन्ध खाओ, तब बैठूँगी, नहीं तो मैं क्या, मेरी छाया तक यहाँ न रह सकेगी।'

'तुम्हारी ऐसी कौन-सी बात मैंने टाली है, जो आज किसी नयी बात के लिए सौगन्ध खाने की जरूरत पड़ गयी!'

अब कला इत्मीनान के साथ एक पीढ़ा लेकर बैठ गयी। बड़ी देर तक वह गोकुल बाबू से बातें करती रही। अन्त में जब गोकुल ने उसकी बात को पूरा करने की शपथ ली, तब पुनः किसी समय आने का वचन देकर कला लौट आयी। लौटते समय वह बड़ी प्रसन्न थी, उसका अंग-अंग विहँस रहा था।

पहले ही दिन जब कला माँ से मिली, खाना खाकर एक नींद सोकर, जब उसने माँ से बातें कीं, तो कानपुर की चर्चा छेड़ते हुए उसने जो पहली बात कही, वह यह थी।

'मैं तो वहाँ जाकर बहुत पछतायी। मैं नहीं जानती थी कि शहरों में इतना पाप है! बाप रे बाप दिदिया को मैं देवी का अवतार समझती

थी। पर उनके साथ रहकर मैंने सब कुछ आँखों से देख लिया। तबियत भर गयी। भर क्या गयी, ऊब उठी। दूसरों के घर जरूरत पड़ने पर रहना और निर्वाह तो करना ही पड़ता है, पर अब इस संसार में धर्म-कर्म कुछ रह नहीं गया। सच पूछो तो सब मिट गया! और यह सब जो कुछ है भी, वह माया के कारण। माया न होती, तो यह कुछ न देख पड़ता। माया है, तभी देख पड़ता है। पर अब कहे कौन? और कोई दूसरा हो, तो कहे भी, जब सब अपने ही रिश्तेदार हैं, तो कोई कहकर जाय कहाँ। कोई कहे, तो उसका मुँह न कुचला जाय! मैं खुद ही मार खाकर भाग खड़ी हुई। वे उसके लिए जरी के काम-कढ़ी रेशमी साड़ियाँ ले आये थे, मैंने जो उन साड़ियों को देखा, तो मेरे मुँह से निकल गया—'जीजी, अब ऐसी हालत में, तुमको सादी चाल से रहना चाहिये, ये बढ़िया साड़ियाँ पहनोगी, तो देखने वाले तुम्हें क्या कहेंगे! कहनेवालों की जीभ पर ताला थोड़े ही लगाती फिरोगी!' बस इतनी-सी बात मैंने कही थी। इसी पर उन्होंने उनसे इशारा कर दिया। फिर तो उन्होंने लातों और घूँसों से मुझे इतना मारा इतना मारा कि अब तक मेरी देह कसकती है।'

भरे हुए कण्ठ से अन्तिम शब्द कहते-कहते कला ने आँखों से आँसू भी टपका दिये। रुमाल लगाकर आँसू पोंछने का दृश्य दिखलाने में भी वह न चूकी।

तब उसकी माँ बोली—'तो, इन बातों में पड़ती ही काहे को है? जो कुछ होता ही, उसे होने दिया कर। तू बीच में कूद कर बुरी काहे को बनती है। खैर, जो हुआ सो हुआ। अब जब तक बबुआ यहाँ आकर इस बात की माफी नहीं माँग जायँगे, तब तक मैं उन्हें तेरी सूरत न देखने दूँगी। बिना उनसे चिरौरी करा लिये मैं किसी तरह न मानूँगी।'

माँ ने कला को छाती से लगा लिया। कला रोने लगी। माँ ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'अब रो मत बिट्टी, यहाँ तुझे रोटियों की कमी थोड़े ही रहेगी।'

२६

कला जिस बात के लिए डरती थी, वैसी कोई बात नहीं हुई। सरोजिनी अपनी बात की धनी थी। वह जो बात कह देती, जहाँ तक सम्भव होता, उसका वश चलता, उससे टलती न थी। फिर वह कोई साधारण बात भी न थी। एक विकसित कलिका का जीवन उससे बन-बिगड़ सकता था। उसने सोचा—'यह तो सम्भव हो सकता है कि उसकी इस बात में कुछ सार हो। किन्तु यदि बात मामूली-सी हुई हो, और उसने अपनी कल्पना से इमारत खड़ी कर ली हो, तब तो व्यर्थ ही में कुछ आत्माओं को आन्तरिक क्लेश पहुँच जायगा। तब उस विकृत वातावरण को शान्त करने में कितनी उलझन होगी। मालूम नहीं, तब फिर चित्त की स्थिरता और निर्मलता लौटने में कितना समय लग जाय। और इसका भी क्या निश्चय कि लौट ही आयेगी ? यह भी तो सम्भव है कि न आये। और यदि कहीं ऐसा ही हुआ, तो कितना अनर्थ हो जायगा।'

सरोजिनी की इस दूरदर्शिता में एक दूसरा दृष्टिकोण भी था। उसने सोचा तारिणी मेरी सखी है और कला अन्ततोगत्वा उसकी भाभी है। उसे बँधे होने में अभी कुल जमा चार-छै वर्ष ही हुए हैं। कल की छोकरी है वह। उसमें तमीज़ ही कितनी है। कोई समझदार स्त्री होती, तो घटना यदि सच भी होती, तो उस पर परदा ही डालती। पर वह तो उसे प्रकाश में लाकर एक कुटुम्ब की प्रतिष्ठा को ही धूल में मिलाना चाहती है। तिस पर यह बात कितनी ओछी है कि उस बात को वह अपनी सगी ननँद से न कहकर मुझसे कह गई, जिससे अभी उसका परिचय हुए कुल दो महीने

हुए थे। फिर उससे मेरी वैसी कोई घनिष्ठता भी तो न थी। अतएव अवश्य ही उसने रस्सी का साँप बनाया है।

तारिणी ने सरोजिनी के यहाँ न आ सकने की बात केवल दो दिन के लिए कही थी, परन्तु तीसरे दिन भी वह आ नहीं सकीं, क्योंकि उसी दिन उसे कला को विदा करना पड़ा। चौथे दिन जब वह सरोजिनी से मिली, तो वह बड़ी प्रसन्न हुई। बोली—'जीजी ये तीन दिन बड़ी मुश्किल से कटे। अच्छा ही नहीं लगता था। अभी चुन्नू दुध-मुँहा बच्चा है, नहीं तो मैं खुद ही आ जाती।'

तारिणी बोली—'मैं भी इन दिनों ऐसी फँसी रही कि निकल ही न सकी। कुछ बातें भी ऐसी हो 'गईं' जिनके कारण चित्त में बड़ी अशान्ति और मलिनता बनी रही।'

सरोजिनी तारिणी के मुँह की ओर देखकर रह गयी। फिर चिन्तित होकर बोली—'बात क्या हुई? खैरियत तो है?' एक प्रकार का तिक्त संशय उसके मानस में लहराने लगा।

तारिणी ने कला की कलह-प्रियता, उसकी कुटिल मनोवृत्ति, लोचन भैया का दण्ड, उनका उपवास, फिर कला की विदा की कथा विस्तार से कह सुनायी।

सरोजिनी ने जो बातें सोची थीं, वे उसके सामने आ गयीं। मन-ही-मन उसने अपनी सुबुद्धि के प्रेरक भगवान की कृपा का स्मरण करके कहा-'गुइयाँ, दुष्ट-प्रकृति का पुरुष हो चाहे स्त्री, उससे उसका ही अनिष्ट नहीं होता, वह दूसरों का भी अनिष्ट करता है। यह बहुत अच्छा हुआ जो तुमने उसकी विदा कर दी। नहीं तो मालूम नहीं कौन-कौन झगड़े-बखेड़े वह उठाती रहती। ऐसे व्यक्ति से भगवान बचाये।'

'गुइयाँ, मैं उसको अन्तःकरण से चाहती थी,' तारिणी बोली—'खाने-पीने और कपड़े के विषय में मैंने सदा ही उसका ध्यान रखा। अधिक नहीं, अगर दो मास ही वह और ठहर जाती, तो चलते समय

तक मैं उसे, उसके बच्चे को, दस-बीस रुपये के कपड़े तो बनवा ही देती। लेकिन उसमें धैर्य तो था ही नहीं। उस दिन मैंने अपने और बिट्टी के लिए कुछ साड़ियाँ मँगाई थीं। भैया से कह भी दिया था कि उनके लिए भी एक साड़ी जरूर ले आइयेगा। वे नहीं लाये, तो मैं उनसे नाराज भी हुई, परन्तु तिस पर भी उन साड़ियों को देखकर वह जल मरी। मैंने सोचा कि अपनी रखी हुई साड़ियों में से एक निकाल कर दे दूँ। उस पर भी वह सन्तुष्ट नहीं हुई। ऊपर मन से कह दिया—'हाँ, अच्छी तो है।' इस पर बिट्टी ने कुछ मज़ाक कर दिया, तो वह इतने जोर से लड़ने लगी कि मैं तो सुनकर अवाक् रह गयी। कहने लगी—'ऐसी उतरन मुझे न चाहिये।' ऐसी कुटिल स्वभाव की वह है। लेकिन है तो अपनी भाभी ही इसीलिए उसका ख्याल आता है, तो दुःख होता है।'

सरोजिनी ने उत्तर दिया—'उँह, इस तरह से आदमी दुःख मनाया करे, तो संसार में उसका निर्बाह होना मुश्किल हो जाय। दुष्ट आत्माओं का त्याग ही शुभ होता है। उन पर दया करना सरासर मूर्खता है।'

इसी समय कमरे के द्वार खुलने की आहट हुई।

सरोजिनी कहने लगी—'आ गये क्या ?'

'हाँ, जान तो, ऐसा ही पड़ता है।' तारिणी कह ही पायी थी कि वकील साहब ने भीतर आकर कहा—'कहो भाभी, भाई साहब की तबियत अच्छी हो गयी ?'

'हाँ अब तो अच्छी है'—तारिणी ने सिर पर पड़ी हुई साड़ी को ललाट के नीचे पलकों के ऊपर तक खिसकाकर कहा।

खड़े-ही-खड़े वकील साहब बोले—'उनसे भेंट हुई थी। पर मैंने आने के लिये विशेष आग्रह नहीं किया। निश्चय तो था नहीं कि तुम आओगी।'

'खैर अब सही,' तारिणी बोली—'आज छोटे भैया भी दो-एक जगह जाने को कह रहे थे। आज न भी जा सके, तो कल अवश्य जायेंगे।'

'अच्छा है, कहीं का हो, लेकिन अब हो ही जाना चाहिये। अभी उसकी पढ़ाई तो चल रही होगी।'

'दशहरे की छुट्टियों के बाद से बन्द है। अब आगे उसको पढ़ाकर करूँगी क्या ? कुछ गृह-कार्य भी तो उसको सीखना चाहिये।'

'हाँ, यह भी ठीक कहती हो। यह तो मुख्य है।' कह कर वकील साहब जब लौट गये, तब तारिणी कहने लगी—'चिन्ता के मारे आजकल मुझे नींद तक नहीं आती बहिन।'

'चिन्ता की बात ही है। किसी दिन बिट्टी को भी साथ में ले आना। कई दिनों से उसे देखा नहीं। जीजी, बड़ी प्यारी लगती है वह मुझे। सोचती हूँ, कुछ ही दिनों में वह पराये घर चली जायगी, तब घर बड़ा सूना-सूना सा लगेगा।'

सरोजिनी के इस कथन से तारिणी की आँखें छलछला आयीं।

तारिणी निस्सन्तान थी। उसका यही दुःख कौन कम गहरा था, तिस पर अब विधवा हो गयी। अब तो उसके सामने अन्धकार ही अन्धकार था। उस सघन तमिस्रा में आलोक का एक ही क्षीण दीपक था, उसका भाई। उसने सोचा था, भाई-भावज के साथ उसका जीवन कट जायगा। सो उसकी भी आशा न रही। यद्यपि भाई देव स्वरूप था, तथापि वह अपने हेतु भैया के परिवार की श्रृङ्खला को भंग करने के लिए तैयार न थी। एक बिट्टी ही उसकी आँखों का तारा थी। परन्तु वह भी तो पराये की होने जा रही थी। ऐसी दशा में निर्मल आचार-धर्म और पुरातन आदर्शवाली एक हिन्दू विधवा करे तो क्या करे। एक आँधी सी तारिणी के हृदय में उठती और रह जाती थी।

२७

'तुम ऐसे नीच हो, यह मैं न जानती थी।'

उपर्युक्त वाक्य निरन्तर राधाकान्त के सामने रहता था। उसमें पशु-वृत्तियाँ थीं, यह तो निश्चित ही है; परन्तु इधर उस दिन की घटना ने उसके भीतर निवास करने वाले पिशाच को बुरी तरह से मसल डाला था। उस दिन के बाद पचासों बार उसके मन में आया था—'क्या सचमुच मैं इतना नीच हूँ।' और जब कभी यह विचार उसके मन में आता, तब उसकी मुद्रा विकृत हो जाती, क्रोध और ग्लानि की भाव-राशि उसके भीतर कोलाहल मचा देती। कभी उसके जी में आता वह कानपुर छोड़ कर किसी ऐसे शहर में जाकर रहे, जहाँ मल्लिका का उसे स्मरण ही न आये। किन्तु यह तो अब सम्भव ही न रह गया था। उसकी बाँईं हथेली के बीच का घाव अब अच्छा तो हो गया था, पर चिह्न रूप में वह उसके जीवन का आमरण साथी बन चुका था। उस कलंक-चिह्न को वह मेट ही कैसे सकता था। उसने सोचा—कम-से-कम उसे तारिणी के घर आना-जाना तो बन्द कर ही देना चाहिये। किन्तु तब तारिणी के आगे वह कर्तव्यच्युत जो होता था। इसी उधेड़बुन में, एक प्रकार के विमूढ़ भाव में, वह ऐसा डूब जाता कि घण्टों उसे अपनी सुध-बुध ही न रहती थी।

राधाकान्त के चित्त की जब ऐसी विकट स्थिति थी, तब वह नौकरी के काम को तत्परता और सावधानी के साथ कैसे करता? प्रतिदिन उससे भूलें हो जातीं, जिस काम को वह तीन घंटे में कर डालता था, अब दिन भर में भी उसे निपटा नहीं पाता। इसके सिवा जब से वह कलकत्ते से लौटा था, तब से अपने काम में वह समय भी कम दे पाता था। जब उसका चित अस्थिर हो उठता, वह आफिस से उठ कर चल देता। और इन सब बातों को वह रोक ही कैसे सकता था? एक दिन जैसे वह आफिस पहुँचा, वैसे ही उसे नौकरी से पृथक् किये जाने का आदेश मिला। उसने पृथक् किये जाने का कारण तक नहीं पूछा। चुपचाप उस दिन तक का हिसाब लेकर वह घर लौट आया।

इस समय राधाकान्त के आगे अन्धकार था। इस स्थिति में दूसरा

कोई व्यक्ति होता, तो घबरा जाता। यदि घबरा न जाता तो अत्यधिक चिन्ताशीलता की जो स्वाभाविक मलिनता होती है, वह तो उसके अन्तः-करण को समाच्छन्न करके ही मानती; लेकिन इस नौकरी के छूट जाने के कारण उसे जरा भी दुःख न हुआ। वरन् वह तो एक प्रकार से प्रसन्न ही हुआ।

अब राधाकान्त इतना बदल गया था कि उसके रहन-सहन के प्रत्येक प्रकार में जीवन का यथार्थ अनुभव बोल उठता था।

घर जाने पर जब माँ, मीरा और उमा ने नौकरी छूट जाने का समाचार सुना, तो वे सब की सब अधीर हो उठीं। लेकिन उन लोगों ने देखा राधाकान्त की मुखकान्ति पर कोई अन्तर न था।

माँ जब चिन्तित होकर अफसोस करने लगीं, तो राधाकान्त हँसने लगा। बोला—'नौकरी छूट गयी तो हम दुःखी क्यों हों। नौकरी लग जाने के एक क्षण पूर्व तक हमारे मन में जैसी स्थिति रहती है, वैसी ही इस समय भी रहनी चाहिये। उस समय भी नौकरी नहीं थी, इस समय भी नहीं है। जब उस समय हम इतने दुःखी नहीं थे, तो इस समय क्यों हों? यह तो जीवन-सरिता का एक उतार है। एक ही-सी स्थिति मनुष्य की कभी रह नहीं सकती। सुख-दुःख की घड़ियाँ आती-जाती ही रहती हैं। इतने दिन मौज के साथ कटे हैं, अब कुछ दिन कष्ट के साथ कटें, तभी तो हम जीवन के सच्चे रूप को समझ पायेंगे।'

माघ मास के दिन आ गये थे। सीमान्त सर्दी में धूप में बैठना बहुत सुखद प्रतीत होता है। छत पर जाकर पहले तो वह चारपाई डालकर धूप में बड़ी देर तक बैठा रहा। फिर बैठे-बैठे उसी पर लुढ़क गया। थोड़ी देर में जब उसे निद्रा-सी आने लगी, तब वह अपने कमरे में जाकर पलङ्ग पर लेट गया। कुछ ही मिनटों में उसे गहरी नींद आ गई। बड़ी देर तक वह सोता रहा। बहुत दिनों से उसे दिन में सोने का अवसर नहीं मिला था। जब सोकर उठा, उस समय चार बज गये थे। हाथ-मुँह धोकर, पान खा-

कर जो वह बैठा, तो उसका शरीर कुछ हल्का प्रतीत हुआ। सामने की दीवार पर उसने अपने ही अक्षरों में एक मोटो लगा रखा था। यकायक उसकी दृष्टि उस मोटो पर दौड़ गयी। आज वे शब्द उसे बड़े प्यारे मालूम हुए। उस मोटो के एक-एक अक्षर में राधाकान्त ने देखा—जैसे अगणित चित्र बन-बनकर मिट रहे हैं। फिर भी उसको तृप्ति न होती थी। क्षण-क्षण में भाव परिवर्तित हो रहे थे। अन्त में वह मन-ही-मन कह उठा—ठीक तो लिखा है—'तुम इतने नीच हो, यह मैं नहीं जानती थी।'

किन्तु इतना सोचते-सोचते राधाकान्त एकदम से उठ बैठा। वह पहले शौच गया। फिर दाढ़ी बनाने बैठ गया। दाढ़ी बना चुका, तो झट से उठकर उसने धुले हुए खद्दर के कपड़े पहने और तब वह चल खड़ा हुआ। पहले वह सेठजी के यहाँ गया; परन्तु सेठजी उस समय एकाउण्ट मिला रहे थे। राधे बाबू को देखकर पहले चकराए; फिर बोले—'आडिटर साहब, यही वेश आपको सोहता है। आप इसी वेश में रहा कीजिये। बैठिये, बोलिये, आपकी क्या खातिर करूँ?'

'खातिर-वातिर की बात तो पीछे रही,' राधाकान्त ने कहा—'यह बतलाओ मकान के बारे में क्या तय किया?'

सेठजी ने कहा—'तीन हजार तो हम उसके दे देंगे; पर सूद एक रुपया सैकड़ा से कम नहीं लेंगे।' थोड़ा रुककर फिर बोले—'और अगर आप इस तरह तय करवा दें, तो सौ रुपये आपकी भी नजर करेंगे।'

'तब तो मकान आप ले चुके,' राधाकान्त बोले—'मैं तो आपका मन ले रहा था। उसका सौदा तो एक दूसरी जगह तय हो गया।'

सेठजी के नीचे से जैसे जमीन ही खिसक गई हो। आश्चर्य के साथ बोले—'तय हो गया!'

'हाँ सेठजी,' राधाकान्त ने कहा—'तय हो गया, बत्तीस रुपये में,

सूद की दर दस आने सैकड़ा और नजराना तीन सौ रुपये। कुछ आया आपके ख़याल शरीफ़ में ?'

'लेकिन आप तो कहते थे,' सेठजी ने कहा—'किसी को खबर ही न लगने पायेगी, फिर सौदा इतना चढ़ के कैसे हुआ ?'

राधाकान्त ने कहा—'खबर की जो बात आपने कही, सो आप इतना तो समझ ही सकते हैं कि यह मामला प्रतिष्ठा-भंग का सब कुछ है; पर जिसे रुपया लेना होता है, वह तो ठोंक-बजा कर लेता है। और बिना चार आदमियों के कानों में बात डाले, इस तरह का काम होता भी नहीं। फिर एक विधवा का काम ठहरा। उसके साथ विश्वासघात कोई कैसे कर सकता है ?'

सेठजी बोले—'तो सौदा पक्का हो गया, या अभी कुछ कसर है। सच-सच बतलाइये, आडीटर साहब; अरे हमारा आपका इतने दिनों का साथ ठहरा, कुछ तो मुरौवत आँखों में रखिये।'

'पक्का तो हो गया है,' राधाकान्त ने मुसकराते हुए कहा—'पर अभी सब कुछ मेरे हाथ में है। उसने रुपये कल देने कहे हैं। मैं उससे कह सकता हूँ कि रुपये आज ही चाहिये। और आज अब बैंक बन्द हो गया है। वह दे न सकेगा। आप अभी रुपये देकर लिखा-पढ़ी करने को तैयार हों, तो उसको जवाब दे दिया जाय।'

सेठजी ने उसी समय सौ-सौ के पैंतिस नोट राधाकान्त के हाथ पर रख दिये।

राधाकान्त ने मुनीम जी को साथ ले जाकर घण्टे भर के अन्दर तारिणी से रेहननामे की दस्तावेज लिखवा दी। बत्तिस सौ रुपये के नोट तारिणी को दे दिये गये।

मुनीम जी जब दस्तावेज लेकर चले गये, तो क्षण भर बाद शेष तीन सौ रुपये के नोट भी उसने तारिणी के आगे रख दिये।

तारिणी विस्मय के अगाध में डूब गयी। बोली—'ये रुपये कैसे ?'

'ये रुपये इस काम के लिए मुझे बतौर नजराना मिले थे। इन्हें भी मेरी ओर से मल्लिका के विवाह में लगा दीजियेगा,' राधाकान्त बोले।

तारिणी नोट वापस करती हुई बोली—'न न, ऐसा नहीं हो सकता। वह तो तुम्हारा मेहनताना है। इसे मैं नहीं ले सकती।'

राधाकान्त ने गम्भीरता के साथ कहा—'इसका तो यही अर्थ होता है कि मल्लिका आप लोगों की ही है, मेरी कोई नहीं।'

'है क्यों नहीं? आप तो उसके बड़े भाई के समान हैं, परन्तु ऐसा कहीं होता है? मैं ये रुपये किसी तरह न लूँगी।'

'तो फिर आज से मैं इस घर की देहली के भीतर पैर न मारूँगा। जब मैं इतना तुच्छ हूँ कि तुम भाभी होकर मेरी यह भेंट स्वीकार नहीं करती हो, तो आज ही से मेरा और रमा बाबू का नाता समाप्त होता है।'

रमा बाबू के नाते की बात सुनते ही तारिणी की आँखें भर आयीं। अब और आगे कुछ कहने की उसकी सामर्थ्य जाती रही। आँसू पोंछती हुई वह बोली—'आज मुझे मालूम हुआ कि मरने के बाद भी जैसे वे जीवित हैं। नहीं तो मुझे तो इतनी जल्दी सब प्रबन्ध हो जाने की बिल्कुल आशा न थी।'

कुछ मिनटों तक कोई कुछ नहीं कह सका। राधाकान्त सोचने लगे—वह बात इनसे इस समय कहूँ कि न कहूँ। न कहने से ये भ्रम में रहेंगीं, और तब, यदि कोई आही गया और पूछ ताँछ हुई, तो ठीक तरह से उत्तर भी न दे सकेंगी। तब वे बोले—'कोशिश तो मैं बहुत पहले से कर रहा था, परन्तु काम जब होने का होता है, तभी होता है। मैं बहुत ही चिन्तित था। इसीलिए बीच में, कई-कई दिनों तक संकोचवश आ भी न सका। खैर, काम हो गया, अब कोई अड़चन की बात नहीं रही। एक बोझ-सा ऊपर लदा था। अब इतने दिनों बाद उतार पाया हूँ!

तारिणी बोली—'यह काम, राधे बाबू, तुम्हीं कर भी सकते थे। भैया को कोई जानता नहीं है। फिर अभी इनको यहाँ आये हुए दिन ही

कितने हुए। तुम इस बीच में न पड़ते तो यह कभी हो न सकता। सूद भी अधिक देना पड़ता और रुपया भी कम मिलता। तुमने उल्टी-पट्टी पढ़ाई होगी, तब कहीं उसने स्वीकार किया होगा। वह मकान क्या है एकदम से खँडहर है। खपरैल और खँडहर मेरी दृष्टि में बराबर ही है। दाम तो सच पूछो, जमीन भर के निकल ही आये। उसकी पुरानी दीवालों में दम ही कितना है?'

राधाकान्त ने कहा—'लेकिन इसमें अभी एक रहस्य भी है। मैं समझता था, तुमको मालूम होगा। लेकिन उस दिन जब पहले-पहल तुमने इस मकान के रेहन रखने का जिक्र किया, तब तुमको ख़याल होगा, मुझे कितना आश्चर्य हुआ था। बल्कि उसी समय तुमने मेरे विस्मय को ताड़ कर मुझसे कुछ कहा भी था। शायद यही कहा था कि इसमें आश्चर्य करने की कौन-सी बात है।'

तारिणी के मुख पर एक भोली जिज्ञासा खेलने लगी। विस्मय भी उसे हुआ। वह सोचने लगी—न मालूम ये कहने क्या जा रहे हैं। क्या इसमें कोई हानि या चिन्ता की कोई बात छिपी है?

चकित मुद्रा से वह बोली—'किन्तु फिर भी मैं यह जान न सकी थी कि तुमको उस समय मेरे उस प्रस्ताव पर आश्चर्य क्यों हुआ था। आज भी जब तुम उसका जिक्र करने जा रहे हो तो मैं हैरान हूँ कि आखिर वह बात कौन-सी है।'

'बात कोई भय या चिंता की नहीं है, केवल एक कानूनी-भेद है,' राधाकान्त ने बतलाया—'असल में उस मकान को रमा बाबू पहले ही बेच चुके थे।'

तारिणी ने विस्मय में डूबकर कहा—'क्या कहा! बेच चुके थे?'

राधाकान्त बोले—'हाँ, बेच चुके थे। यह रुपया उस समय उन्होंने लिया था, जब म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरी के इलेक्शन में वे खड़े हुए थे

और हार गये थे। उनके एक मित्र जो कन्नौज के निवासी हैं और इन्दौर में नौकर हैं, उन्होंने उसे मोल लिया था। परन्तु किराया लेने आदि का काम रमा बाबू के ही जिम्मे रहता था। वही छै-छै महीने का किराया इकट्ठा भेज दिया करते थे। तुम उनको जानती होगी, कभी-कभी जब वे कानपुर आते थे, तब यहीं ठहरते थे। उनका नाम है प्रेमकिशोर।'

'हाँ, प्रेमकिशोर जी को मैं जानती हूँ। दुबले, नाटे कद के आदमी हैं। जवान कुछ-कुछ लगती है।' तारिणी ने कहा।

'हाँ, वही'—राधाकान्त बोले।

अब ईषत् चिन्ता का भाव झलकाती हुई तारिणी बोली—'तो अब क्या होगा? इसका मतलब तो यह है कि सेठजी को धोखा दिया गया।'

'किसने धोखा दिया? इस भेद को अब जानता ही कौन है? केवल मैं ही न? सो, मेरा जानना और न जानना बराबर है। रमाशरण जी के आन्तरिक मामलों में, दुनिया की देख में, मेरी कोई स्थिति तो थी नहीं। असल में जानना चाहिये था तुमको, जिनका मकान था और तुमने जो आज्ञा की, मैंने उसका पालन भर किया। तुम्हारी आज्ञा के बीच में मुझे अपने ज्ञान का विरोध उत्पन्न करने की आवश्यकता ही क्या है?'

तारिणी मुस्कराने लगी। बोली—'तो तुम सेठजी के सामने झूठे बनोगे?'

'यह लड़की का काम है। इस साधारण-सी युक्ति में अगर कुछ थोड़ा प्रगतिवाद भी प्रसंगवश खप जाय, तो इस पवित्र पुण्य कार्य के लिये उसमें कोई दोष न माना जायगा। संसार के सब काम इसी प्रकार चलते हैं।'

तारिणी हर्ष-गद्गद् होकर कहने लगी—'यद्यपि मैं आपसे बहुत दिनों से परिचित हूँ, किन्तु आपके, इन सद्गुणों से अब तक बिल्कुल अपरिचित थी। सच है, मनुष्य का असली परिचय तभी मिलता है, जब उससे कुछ काम पड़ता है।'

'लेकिन मेरे दुर्गुणों से आप अब भी अपरिचित हैं,' राधाकान्त मुस्कराता हुआ बोला—'आपको शायद पता नहीं, मैं बड़ा नीच व्यक्ति हूँ।'

'राम राम !' ऐसा न कहिये राधा बाबू। कहती हुई तारिणी ऊपर के कमरे की ओर देखकर कहने लगी—'बिट्टी, भैया को दो बीड़े पान तो लगाकर दे जा।'

राधाकान्त बोले—'इस समय पान न खाऊँगा। इच्छा नहीं है। अब चलूँगा।'

मल्लिका ने उसकी बात सुन ली थी। संयोग से पान लगे रक्खे थे। गिलौड़ी में से झट दो बीड़े निकालती हुई मल्लिका छज्जे पर आकर बोलीं—'नहीं नहीं, पान आपको खाने ही पड़ेंगे, राधे भैया।' और झट सीढ़ियाँ उतरती हुई सामने आ गयी।

अब राधकान्त इनकार न कर सके। पान तो उन्होंने ले लिये, पर चलते समय तारिणी से इतना और कहते गये—'बिट्टी को पता है। आप चाहें, तो उससे पूछ सकती हैं।'

मल्लिका की स्थिति अब बड़ी गम्भीर हो गयी। घटना की सारी कहानी उसे भाभी से कहनी पड़ी। सारी बातें सुनकर तारिणी बोली—'कुछ भी हो। अब इस आदमी के अन्दर का शैतान मर गया है !'

२८

आज लगभग तीन वर्ष के बाद राधाकान्त ने देखा, उमा तो एकदम से बदल ही गयी है ? जिसके मदिर यौवन की एक झलकमात्र से कभी उसकी लालसा तरंगिणी बन जाती थी, जिसकी पतली-पतली कमल-नाल-सी अँगुलियाँ चूम लेने की तबियत होती थी, जिसकी बलखाती काया की

छाया मात्र देखकर, उमंग-उदधि में डूब-डूबकर इस विश्व को वह एक स्वर्ग समझने लगता था, उसकी वही प्यारी उमा आज कैसी रुग्ण देख पड़ती है। एक अदमनीय पीड़ा से उसके अन्तराल का कोना-कोना कसकने लगा। उसके ज्ञानतन्तुओं में विद्युद्गति से यह विचार फैल गया कि उसी की उपेक्षा से आज उमा इस दशा को प्राप्त हुई है।

रात के दस बजने का समय था। चौड़े पलँग पर तारा को अपने साथ बायीं ओर लिटाये हुए, उमा छत की कड़ियों की ओर स्थिर दृष्टि से देख रही थी। इसी समय राधाकान्त कुछ सोचता हुआ उसके निकट जाकर खड़ा हो गया। कमरे के भीतर का प्रकाश अभी क्षीण नहीं हुआ था। राधाकान्त कुछ मिनटों तक खड़ा-का-खड़ा ही रह गया। यकायक श्वास-स्वर का अनुभव कर उसने नीचे की ओर दृष्टि फेरी तो उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। पलकों को थोड़ा खुला रखकर कुछ क्षणों तक, वह ज्यों की त्यों स्थिर देखती ही रह गयी। अन्त में जब उसे जान पड़ा कि वास्तव में वह स्वप्न नहीं देख रही है, सचमुच वे ही खड़े हैं, तो झट से उठकर बैठ गयी। राधाकान्त अब एक कुरसी खिसका-कर वहीं बैठ गया। बैठ तो वह गया, पर अब कहे क्या, यह नहीं सोच सका!

उमा भी कुछ नहीं बोली। और उमा बोले ही क्यों? अगर वह बोल ही सकती, तो बोलचाल टूट जाने का यह अवसर ही क्यों आता। नारी-सुलभ लज्जा को भुलाकर यदि वह राधाकान्त के निकट तितली बनकर संभवतः मडराया करती तो भी यह परिस्थिति उत्पन्न हो ही जाती, यह कौन कह सकता है? परन्तु विधाता ने उसे नारी बनाया है न, और सो भी हिन्दू नारी। फिर अपनी ओर से वह क्यों बोले? किसलिए बोले? बोले इसलिए कि उसे पति से कोई शिकायत है? बोले इसलिये कि उनका पार्थिव सम्पर्क उसे प्राप्त नहीं होता? और वह बोले इसलिए कि उसे यह चीज चाहिये, वह चीज चाहिये? तो फिर वह क्यों बोले? उसका

नारीत्व तो अभी मर नहीं गया है, उसके एकांगी प्रेम का चिरसंचित अक्षय कोष भूलुंठित होने के लिए तो नहीं है। यदि वह सदा अपनी ही ओर से बोले तो फिर एक उपेक्षिता नारी के पास और दूसरा बल ही कौन-सा रह जाता है ? जाओ, वह नहीं बोलती। वह न बोलेगी।

राधाकान्त सोचने लगा—'उसने ठीक ही कहा था—तुम इतने नीच हो, यह मैं न जानती थी।'

उसका रक्त-स्रोत उद्वेलित हो उठा। उसकी रग-रग में आज एक अबाध स्फुरण संचारित हो उठा। वह चुप न रह सका। अपने को बहुत संयत रखकर उसने कहा—'क्या तबियत कुछ खराब रहती है ?'

उमा ने चाहा, वह कह दे—'हाँ, रहती तो है खराब तबियत, फिर ? आप चाहते क्या हैं ?' लेकिन वह ऐसा न कह सकी। उसने सोचा—'मैं कहना भी चाहूँ, फिर भी मुझसे यह कहते न बनेगा।' इसके साथ ही उसे दस दिन की बातें याद आ गयीं, जब उन्होंने कहा था—'मुझमें यही इच्छा सदा बलवती बनी रहती है कि तुमको सदा निकट ही रक्खूँ—कहीं जाने न दूँ। और हाय वे ही स्वामी आज इतने दिनों बाद पूछते हैं कि क्या तबियत कुछ खराब रहती है ? यह कैसी द्विविधा है प्रभो ?' और यह सोचने के साथ ही उसकी आँखें आँसुओं से तर हो गयीं। वह सिसक-सिसककर रो उठी।

राधाकान्त की आँखों में आँसू नहीं आ सके। गहरी व्यथा की अनुभूति में आँसुओं का स्रोत सूख जाता है। राधाकान्त की आँखों में भी आँसुओं का स्रोत सूख गया है। बहुत ही मन्द सूखे हुए स्वर में वह कहने लगा—'रोओ नहीं उमा, कोई किसी के लिए कुछ नहीं करता। जो कुछ होता है, जाने कैसे होता चला जाता है। कोई उसे रोक नहीं सकता। किसी का उसमें कोई वश नहीं है। तो भी हम चुप क्यों रहें ! कर्म में प्रवृत्त तो हमको रहना ही पड़ेगा, सोच-समझकर चलना ही पड़ेगा।'

'एँ, वह क्या कह गया ? ये बातें वह किसी दार्शनिक जिज्ञासु से तोकह नहीं रहा है। कोई ऐसा व्यक्ति उसके सामने भी नहीं है। वह तो उमा के सामने है।' सोचकर और यह देखकर कि उमा की सिसकियाँ शान्त नहीं हो रही हैं, वह उठकर उसी पलँग पर बैठ गया। अपनी लम्बी धोती के छोर से जब वह खुद उमा के आँसू पोंछने लगा तो उमा और भी जोर से रो पड़ी।

राधाकान्त बोला—'तो मैं चला जाता हूँ। मुझसे तुम्हारा इस तरह रोना देखा नहीं जाता।' और सोचने लगा—'पुरुष का हृदय भी एक अजीब मशीन होता है। उसके मन में सहानुभूति नाम की एक चिड़िया होती है। जब वह रोना चाहती है, तब कोई उसे रोक नहीं पाता।'

उमा ने आँसू पोंछ लिये, चित्त को कुछ स्थिर किया। अब वह कुछ कहना चाहती थी।

राधाकान्त ने पूछा—'तुमको क्या हो गया है ? क्या तुम भी मुझको नीच समझती हो। सच बतला दो उमा, मैं यह बात तुम्हारे सच्चे हृदय से पूछता हूँ; क्या तुम भी मुझे नीच समझती हो ?'

उमा ने भरे हुए कण्ठ से कहा—'मेरे लिए तुम सदा देवता रहे हो, आज भी हो। फिर यह कैसी बात तुमने कह दी ?'

'मैंने यों ही पूछा उमा,' राधाकान्त ने कह दिया—'और पूछा इसलिए कि जब कोई मुझे नीच कहता है, तब मुझे बड़ा अच्छा लगता है।'

राधाकान्त क्या कह रहा था, किस अभिप्राय से कह रहा था, उमा न समझ सकी। भ्रकुटिद्वय तानकर भगवती दुर्गा की-सी क्रुद्ध मुद्रा से वह बोली—'जो कोई मेरे देवता को नीच कहे, उस अधम का मैं खून पी डालूँ ! मैं उमा हूँ।'

'यहाँ तुम भूल रही हो उमा,' राधाकान्त ने कहा—'मैं सचमुच नीच हूँ। जान पड़ता है, बहुत सोच-समझकर यह बात कही गयी है। तुमको

भी तो बहुत कष्ट दिया है मैंने। तुम्हारी जैसी भार्या पाकर भी जिसकी पैशाचिक वासना शान्त नहीं हुई, वह राधाकान्त नीच नहीं है, तो फिर दुनियाँ में अन्य कोई भी व्यक्ति नीच हो नहीं सकता।'

'जाने दो, हटाओ इस बुरी बात को। और बातें करो,' उमा बोली—'तुम्हारी इस बात से मेरा जी जाने कैसा होने लगता है।'

'मैंने अभी पूछा था कि क्या तबियत कुछ खराब रहती है? तुमने कोई उत्तर नहीं दिया। अच्छा जरा हाथ तो देखूँ,' कहकर वह थोड़ा और निकट आ गया।

उमा ने हाथ बढ़ा दिया।

राधाकान्त को स्मरण हो आया, एक दिन इसी तरह उसने मल्लिका का हाथ देखा था! उस समय......!

राधाकान्त ने देखा, उमा को वास्तव में कुछ ज्वर है। तब वह सशंकित होकर बोला—'सदा ऐसी ही तबियत रहती है, या कुछ अन्तर भी होता है?'

उमा अन्यमनस्क होकर बोली—'सदा ऐसी ही रहती है। कभी-कभी और भी अधिक भारी हो जाती है।'

उमा का हाथ अभी राधाकान्त से हाथों में ही था। 'कभी यही हाथ कितना मांसल, कैसा शीतल और कोमल रहता था। आज तो अस्थियाँ मात्र रह गयी हैं, इसमें।' एक बार राधाकान्त ने सोचा और तत्क्षण उसने उसी ज्वर-ग्रस्त हाथ को चूम लिया। उसने अनुभव किया यह हाथ मल्लिका के हाथ की अपेक्षा कहीं अधिक कोमल है।

उमा उसकी गोद में आ गई और फिर साड़ी के छोर से मुँह ढककर सिसकियाँ भरने लगी।

राधाकान्त उसके बाहु पर, पीठ पर हाथ फेरने लगा। फिर बोला—'तो जान पड़ता है, तुम भी मुझे नीच ही समझती हो। नहीं तो प्रस्थान की यह तैयारी क्यों होने लगती!'

अब राधाकान्त की आँखों का अश्रु-स्रोत फूट निकला। गरम-गरम आँसू उमा के बदन पर टपकने लगे। राधाकान्त ने उसे कम्बल से ढँक लिया।

उमा बोली—'वर्षों से इसी दिन की प्रतीक्षा में रही हूँ। तुमने कभी इधर दृष्टि तक नहीं फेरी। तुमको न जाने हो क्या गया था?'

इतने में एक शीतल निश्वास लेती हुई उमा ने उठकर, सम्हलकर, अपने को और अधिक कम्बल से ढँक कर कहा—रजनी दवा लाता रहा। कभी जी में आया दवा खा ली, न आया, नहीं खायी। कैसे खाती दवा, क्यों खाती, किस लिए खाती? और अब तुमने मेरी ओर दया की दृष्टि फेरी, जब मेरी चलाचली का समय है। अब क्या हो सकता है? पहले साधारण खाँसी थी, अब तो कफ के साथ खून भी आने लगा है। लेकिन एक बात है, तारा के बाबू—कहते-कहते उसका कण्ठ फिर भर आया—'अब मैं सुख से मरूँगी।'

राधाकान्त बोले—'मैं तुमको भुवाली-सेनीटोरियम ले चलूँगा। तुम कैसी बातें करती हो उमा? मैं तुमको मृत्यु के मुख से भी निकाल लाऊँगा तुम्हें मेरी शक्तियों का अभी पता नहीं है।'

'तुम मुझे बहलाते हो,' उमा बोली—'किस बल पर सेनीटोरियम ले चलोगे? नौकरी भी तो छूट गई।'

'तो इससे क्या?' राधाकान्त बोले—'मैं तुम्हारे लिए अपने आपको बेच सकता हूँ, उमा।'

'जाने दो, हटाओ, मुझे अब अधिक मोह में न डालो—नहीं तो मेरे प्राण भी सुख से न निकलेंगे। और मैं जानती हूँ, तुम ऐसा कभी न चाहोगे।'

थोड़ी देर तक फिर दोनों मौन रहे। उमा बोली—'अब तुम जाओ, रात बहुत बीत गयी। कहीं तुम्हारी तबियत खराब न हो जाय।'

राधाकान्त का हृदय चिता की भाँति धू-धूकर जल रहा था।

२६

वकील साहब ने जो लड़का बताया था, तारिणी उसे देखकर पसन्द कर चुकी थी। मल्लिका के लिए वह सब प्रकार से योग्य और उपयुक्त था। तारिणी उसकी स्वीकृति दे चुकी थी। लोचनबाबू स्वयं उसके मकान पर जाकर उसे, उसके मकान को, देख आये थे। गाँव में उसके वैभव की कथाएँ भी सुन चुके थे। तिलक चढ़ गया था, विवाह की तैयारियाँ बड़ी धूमधाम से हो रही थीं।

शुक्रवार की शाम को बारात आयेगी। शनिवार को अरुणोदय होने से दो घड़ी पूर्व, ब्राह्म मुहूर्त में, पाणिग्रहण संस्कार का समय निश्चित था। माधवबाबू की सुप्रसिद्ध धर्मशाला में बारात को जनवासा दिया गया था। स्वागत-सत्कार का सारा प्रबन्ध वकील साहब के हाथ में था। भीतर लेन-देन का काम लोचनबाबू सम्हाल रहे थे। तारिणी ने अपनी सहायता के लिए, अपनी बड़ी भाभी को बुला लिया था। उसके मकान के निकट ही एक अन्य मकान का नीचे का भाग खाली करा लिया गया था। उसमें कुछ कुलीन ब्राह्मण लोग पकवान्न व मिष्ठान बना रहे थे। राधाकान्त की दृष्टि चारों ओर थी। जिस ओर उसे गड़बड़ी देख पड़ती, वह उसी ओर दौड़ पड़ता था।

अगवानी हो जाने और जनवासा दे देने के पश्चात् द्वाराचार और दुर्गा-जनेऊदान का संस्कार जिस समय तारिणी के द्वार पर हो रहा था, उस समय का दृश्य बड़ा ही मनोहर था। प्रमदाएँ मङ्गल गान गा रही थीं। द्वार पर दोनों ओर दो अवगुण्ठनवती पनिहारियाँ मङ्गल-कलश

लिए खड़ी थीं। द्वार की प्रमुख स्त्रियों में सरोजिनी भी थी। किन्तु तारिणी उस समय वहाँ उपस्थित न थी। ऐसे अवसर पर हिन्दू विधवा की उपस्थिति अमांगलिक मानी गयी है।

ऊपर के कमरे में बैठी हुई तारिणी कुछ सोच रही थी। जो कुछ वह सोच रही थी, वह उसे इस समय सोचना नहीं चाहती थी। तो भी वे बातें उसके सामने आ ही जाती थीं। वह अपने हृदय को मसल डालना चाहती थी। लेकिन उसके उर का आन्तरिक क्रन्दन उसके दबाये दब नहीं रहा था। वह कभी छत पर जाती, कभी फिर लौट आती, कभी नीचे द्वार की ओर झाँकने की इच्छा करती। छत के छज्जे पर भी बहुतेरी स्त्रियाँ बैठी हुई नीचे का दृश्य देख रही थीं। तारिणी उनमें से एक को बुलाकर पूछने लगी—'कहो जीजी, कैसा वर है?'

वह बोली—'बड़ा सुन्दर है।'

तारिणी के भीतर फिर कोई कह उठा—'और तो सब कोई है, केवल वे ही नहीं हैं।'

तारिणी की बड़ी भाभी के लड़के ने आगे बढ़कर वर के तिलक किया। पंडितों ने वर को दुर्गा जनेऊ प्रदान किया। वर की न्यौछावर की गयी। उसकी पालकी और बारात जनवासे को वापस गई। खाने की समस्त सामग्री, दो बड़े से नये कलशों के साथ, जनवासे भेज दी गयी। वकील साहब ने जनवासे में ही सबको पंक्तिवार बैठालकर, प्रेम के साथ भोजन करवाया। किसी चीज की कमी नहीं पड़ी। पहले ही अनुमान से कुछ अधिक सामग्री भेजी गयी थी। बरातियों में जो पुराने विचार के थे, उन्होंने उस समय पुरानी प्रथा के अनुसार भोजन करना स्वीकार किया। नये विचारों के व्यक्ति अधिक थे। उन्हें कचौड़ी-पूड़ी, अनेक प्रकार के शाक और खटाइयाँ मिठाइयाँ इच्छानुसार माँग से भी अधिक दी गयीं। सबके सब बड़े प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए। अब पान-तम्बाकू की बारी थी। वकील साहब ने दो-ढाई-सौ पान चाँदी के वर्क में लिपटवाकर तश्तरियों

में लगा दिये थे। साथ में बनी हुई बढ़िया तम्बाकू भी थी। उनका भी वितरण कर दिया गया।

अब सब के बिस्तरे लगा दिये गये। वकील साहब ने बड़े-बूढ़ों के निकट जाकर कहा—'सर्दी के दिन हैं। यदि आवश्यकता हो तो कुछ लिहाफ, कम्बल और बिछौने भिजवा दिये जायँ। इसका भी मैंने प्रबंध किया है।'

उत्तर मिला—'सब ठीक है। अब हमें किसी चीज की आवश्यकता नहीं है। बड़ा आनन्द है! जहाँ आप जैसे बड़े आदमियों के हाथ में प्रबन्ध हो, वहाँ किसी प्रकार की कमी, किसी बात की तकलीफ थोड़े ही हो सकती है।

वकील साहब रिस्टवाच देखते हुए बोले—'तो अब ग्यारह बज रहा है। आप लोग आराम कीजिये। मैं भी अब आज्ञा चाहता हूँ। रात में कोई आवश्यकता भी नहीं है। कल फिर मैं आप लोगों के दर्शन करूँगा।'

प्रमुख व्यक्तियों ने कहा—'हाँ, आप अब जाइये, बड़ी तकलीफ की आपने। लेकिन एक बात है वकील साहब,' एक वृद्ध महाशय बोल उठे—'यह तो मौके-मौके की बात है। कभी हम लोग आपके आगे हाथ जोड़ते हैं, प्रार्थना करते हैं और आप रुपये और नोट देखे बिना बात नहीं करते अब आज हमारा भी मौका आया है।'

बुढ़ऊ की बात सुनकर, युवक-मण्डली में भी हँसी की लहर दौड़ गयी।

वकील साहब हाथ जोड़ कर बोले—'तो दादा उसका भी प्रबन्ध है, चिन्ता करने की कोई बात नहीं है।'

अब बुढ़ऊ दाँत बाकर रह गये। उनके एक साथी निकट बैठे थे, वे भी बड़े बातूनी और विनोदी थे। बोले—'अब बोलो दादा, आखिर जवाब खा गये न?'

बुढ़ऊ बोले—'एक-आध प्रसङ्ग ऐसा होता है, जिसमें हर आदमी अपनी घर वाली से जवाब खा ही जाता है। क्यों वकील साहब, मैं झूठ तो नहीं कहता ? मेरे ख्याल से इसमें संकोच करने की भी कोई बात नहीं है। यह अवसर तो इस प्रकार की नुक्ताचीनी का होता ही है।'

दो व्यक्तियों ने एक साथ कहा—'यह भी ठीक कहा आपने।'

इतने में एक ढीठ बोल उठा—'मगर दादा सिर्फ नुक्ताचीनी से काम नहीं चलता, साथ में दाल-चीनी, शीतल चीनी और माफ कीजियेगा गरम चीनी भी चाशनी के रूप में थोड़ी बहुत तो चखने की होनी चाहिये।' इस पर हास्य का एक निर्घोष बरात भर में गूँज गया। दादा की बाछें खिल गयीं। वे बोले—'बस, जो कुछ कसर थी, वह तुमने पूरी कर दी बेटा।'

वकील साहब ने देखा, ये लोग विनोद वार्ता के रंग में हैं। इनके मुँह लगना बेकार है। तब वे चल दिये। धीरे-धीरे कुछ लोगों को छोड़-कर शेष सब लोग सोने लगे।

इसी समय एक साहब बाहर से तशरीफ ले आये। आते-ही-आते वे किशोरीलाल को पूछने लगे। बरात में किशोरीलाल नाम किसी और का नहीं, बल्कि खास नौशा का ही था। भीतर से निकल कर वे बाहर फाटक के निकट आकर उनसे आ मिले। देखते ही बोले—'आख्खा, गोकुल बाबू हैं। खूब दर्शन हुए। न्योता तो मैं आपको देना भूल गया था, लेकिन आप मिले खूब। अब यहीं ठहरिये। इस अवसर की शोभा बढ़ाइये।'

'मैं तो अपने एक कचहरी के काम से आया था। सबेरे ही चला जाना है। आपसे एक जरूरी बात करनी थी। इसलिए सोचा, अब देर करना ठीक नहीं है।'

किशोरी बाबू बोले—'कहिये-कहिये। क्या बात है ?'

गोकुल बाबू ने कहा—'बात इस तरह बतलाने की नहीं है। एकान्त में चलिये।'

किशोरीलाल गोकुल बाबू को एकान्त की एक कोठरी में ले गये। उनके बिस्तर वहीं लगे हुए थे। गद्दे पर बैठालकर, पान खिलाकर, उन्होंने उससे बातें कीं। लगभग एक घंटे तक बातचीत होती रही। अन्त में गोकुल बाबू चलते हुए बोले—'मैं अब चलता हूँ। आप अब जैसा चाहें, वैसा कीजिये। मैंने जो बात सुनी, वह आपसे कह दी।'

किशोरी बाबू तीन बजे तक जग कर विचार करते रहे। अन्त में उन्हें यही निश्चय करना पड़ा कि मैं यह विवाह नहीं करूँगा। तुरन्त उठकर समस्त बरातियों को जगवाकर उन्होंने कहा—'सब लोग लौट चलने के लिये तैयार हो जाइये। मैं यह विवाह नहीं करूँगा।'

बरातियों में बिजली की तरह यह संवाद फैल गया।

किशोरीलाल के आगे प्रश्नों की झड़ी लग गई। लोग पूछने लगे—'आखिर इस विवाह से आपके इनकार करने का कारण क्या है?'

किशोरीलाल बोले—'कारण कुछ नहीं है। यह तो अपनी-अपनी इच्छा की बात है।'

एक युवक ने उत्तर दिया—'इसमें अब आपकी इच्छा ही प्रधान नहीं है। आपको कारण बतलाना पड़ेगा, इसके बिना विवाह टल नहीं सकता। एक भले आदमी की मान-हानि का प्रश्न है, कोई मामूली बात नहीं। चलेगा मुकदमा, तो होश ठिकाने आ जायँगे, आपने समझा क्या है?'

किशोरी बाबू बोले—'सब समझा है। जो कुछ होगा मैं भुगत लूँगा, पर अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई काम न करूँगा।'

प्रश्न हुआ—'तो पहले आप क्यों तैयार हो गये थे? हम लोगों को परेशान करने के लिए? अब तो आपको यह विवाह करना ही पड़ेगा।'

'मर गये करने वाले।'

'अभी कहाँ मर गये ! मरने के लिए उन्हें तीन लाख की हवेली में जाना पड़ेगा । मरने के लिए यहाँ उनको जगह कहाँ धरी है !'

जब किसी तरह किशोरीलाल की जान न छूटी, तो वे बोले—'कारण मैं केवल एक व्यक्ति को बतलाऊँगा, सबको नहीं ।'

अन्त में वे दादा ही, इसके लिये, सर्वसम्मति से प्रतिनिधि निर्वाचित हुए । पन्द्रह मिनट तक किशोरीलाल ने उनसे बातचीत की । अन्त में दादा भी लौट चलने पर सहमत हो गये ।

रातों-रात आदमी दौड़ पड़े । वकील साहब, लोचन बाबू और राधाकान्त भी आ गये । सबने हाथ जोड़े, पैर छुए । समझाया-बुझाया, परन्तु बरात किसी प्रकार रोके न रुकी । लौटने का कारण पूछने पर वकील साहब को बतला दिया गया । वे सुनकर अवाक् रह गये, उनका चेहरा उतर गया । उनसे लोचन बाबू और राधाकान्त को भी मालूम हुआ । राधाकान्त ने जब सुना, तो विक्षिप्त सा होकर उसने सबके आगे हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा—'अगर संसार में ईश्वर की सत्ता है, अगर देवी-देवताओं में कुछ भी अस्तित्व है, तो गंगा की बीच धारा में बैठकर मैं शपथ-पूर्वक यह कह सकता हूँ कि वह सर्वथा निष्कलंक और मेरी-माँ बहिन की भाँति पवित्र और निर्मल है ।'

किशोरीलाल को उस बात का सन्देह अब और पक्का हो गया । उसने तपाक से उत्तर दिया—'चुप रह नीच, तेरी इस शपथ का मूल्य क्या है ? तू होता कौन है इस तरह की शपथ लेने वाला ? चला है वहाँ से सफेद-पोश बनकर । दूर हो मेरे सामने से !'

किशोरीलाल के इन वाक्यों को सुनकर राधाकान्त को कुछ ऐसा बोध हुआ, जैसे उसके ऊपर पुष्प-वर्षा हो रही है ! कोई दूसरा अवसर होता, तो ऐसे व्यक्ति को वह उसी समय समाप्त कर देता । इसके लिए वह सदा तत्पर रहने लगा था । लेकिन उस समय ऐसे विषाक्त अपमान को भी वह पी गया ।

बरात लौट रही थी। सब लोग अपने-अपने बिस्तर बाँध-बाँधकर, इक्कों पर चढ़ते जाते थे।

वकील साहब और लोचन बाबू तारिणी के घर को चल दिये, तो राधाकान्त बोल उठा—'मैं जरा घर हो आऊँ।'

चिन्तित वकील साहब बोले—'अच्छा हो आइये। लेकिन जल्दी लौट आइयेगा। क्या करना होगा, इस बात पर जरा विचार करना है।'

राधाकान्त बोल उठा—'पर जब तक मैं लौट न आऊँ, तब तक भाभी से आप लोग कुछ न कहें। यह मेरी विनीत प्रार्थना है आपसे।'

दोनों एक साथ बोल उठे—'अच्छी बात है। हम आपकी प्रतीक्षा करेंगे।'

राधाकान्त को इधर छोड़कर जब वकील साहब तारिणी के घर की ओर चले तो लोचन से कहने लगे—'मुझे कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मन-ही-मन राधाकान्त ने उद्धार का मार्ग खोज निकाला है।'

लोचन ने गम्भीरता के साथ उत्तर दिया—'अब तो हरि के हाथ निबाह है, वकील साहब। होगा वही, जो उस चार भुजावाले के मन में है।'

३०

राधाकान्त जब घर पहुँचा, तो कागा बोल रहा था। लेकिन अन्दर से उसका हृदय बैठा जाता था। एक बार उसके जी में आया वह आत्म-घात कर ले। परन्तु फिर भीतर-ही-भीतर किसी ने उसकी आत्मा में सजग होकर कहा—'छिः कायर कहीं के! अब जान छुड़ाकर भागता है!'

परन्तु रास्ते में उसके पैर इतनी जल्दी उठ रहे थे कि उसे प्रतीत होता था वह दौड़ रहा है। ठीक तरह से उसके पैर जमीन पर पड़ते भी

न थे। घर पहुँचते-पहुँचते एक दम से अपने आपको सजग-उत्साहित करके, दो बीड़े पान खाकर, पहले वह अपने मत्थे पर हाथ रख कर कुछ सोचने लगा।

फिर लालटेन हाथ में लेकर वह रजनी के निटक गया। वह सो रहा था। बोला—'रजनी, रजनी, उठ तो सही।

रजनीकान्त उसका अनुज हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। बोला—'अरे दद्दा! क्या है ?"

राधाकान्त बोला—'एक जरूरी काम है। कपड़े पहन लो और मेरे साथ चलो। घबड़ाओ मत।'

बात-की-बात में रजनीकान्त कोट-पैण्ट पहनकर भाई के साथ हो लिया। सड़क पर आकर उसने सशंकित भाव से उसने पूछा—'कहाँ चलना होगा ?'

राधाकान्त तारिणी के घर की ओर चलते हुए धीरे-धीरे कहने लगा—'देखो, रजनी, अगर जरूरत पड़ी तो तुमको मेरा कहना मानना पड़ेगा।'

रजनीकान्त दृढ़ता से बोला—'मैंने तुम्हारी बात टाली कब है ?'

'टाली तो नहीं है, फिर भी वह बात कुछ ऐसी है कि तुम यकायक सोच-विचार में पड़ सकते हो', राधाकान्त बोला।

'दद्दा, यह क्या बात ,तुमने कह डाली ? ऐसा तो कभी मैं सोच भी नहीं सकता।' रजनीकान्त ने जवाब दिया।

राधाकान्त बोला—'एक अकलंक कुमारी के मान का प्रश्न है। जरूरत हुई, तो तुम्हें उसको स्वीकार करना पड़ेगा।'

रजनीकान्त चुप रह गया।

'क्यों ? अब चुप क्यों हो गये ?'

'वही तो सोच रहा था !'

'तो तैयार हो न ?'

'लेकिन इतनी जल्दी !······खैर मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि आपकी आज्ञा टालूँगा नहीं।'

तारिणी का घर आ गया। अभी दरवाजे पर गैस का हण्डा जल रहा था। बाहरी बैठक में लोचन और वकील साहब कुरसियों पर बैठे हुए थे। तारिणी को नाई के द्वारा सारा हाल पहले ही मिल गया था। राधाकान्त को सामने देखकर वह रो पड़ी।

राधाकान्त सान्त्वना के स्वर में बोला—'रोओ मत भाभी। देखो, मेरी बात सुनो, आँसू पोछ डालो। मैंने सब-कुछ सोच लिया है।'

वकील साहब और लोचन बाबू राधाकान्त की ओर देखने लगे।

राधाकान्त के पास खड़े हुए नवयुवक को देखकर तारिणी ने पूछा—'इस बालक को मैंने नहीं पहचाना।'

राधाकान्त ने शान्ति के साथ उत्तर दिया—'यह मेरा भाई रजनीकान्त अभी बाईस वर्ष का हुआ है, बी० ए० में पढ़ता है। हम लोग कुलीनता में तुमसे भी श्रेष्ठ हैं। अगर तुम इसके साथ बिट्टी का ब्याह करना स्वीकार करो, तो मैं बिना एक पैसा दहेज लिये इस सम्बन्ध को सहर्ष स्वीकार करूँगा।'

तारिणी की आँखें चमक उठीं। हर्ष गद्‌गद् होकर वह बोली—'तब तो मैं जी गई।'

लोचन बाबू बोल उठे—'आप धन्य हैं।'

वकील साहब ने कहा—'सचमुच, आप धन्य हैं। आपके भीतर इतनी बड़ी महान आत्मा छिपी हुई है, यह मैं न जानता था। वे कैसे दीनानाथ हैं, यह कोई जान नहीं सकता। कोई, किस लिये, क्या करता है, इसका विधान तो उन्हीं के मन में रहता है। दूसरा कोई जान ही कैसे सकता है। उस प्राण-पीड़क घटना का यह कैसा उज्ज्वल अन्त है!'

मल्लिका भीतर अचेत पड़ी थी। तारिणी झट से अन्दर जाकर उसे उठाती हुई बोली—'अरी उठ-उठ! तेरे सौभाग्य जग गये। राधा बाबू

अपने छोटे भैया रजनीकान्त को ले आये हैं। रुक्मिणी के लिए कृष्ण ही तो निश्चित थे, दूसरा कोई उसे पाता कैसे !'

विस्मय और उल्लास के अगाध में मल्लिका लहराने लगी।

तारिणी पुलकित होकर बोली—'इस समय मुझे बनावटी संकोच बिल्कुल अच्छा लग नहीं रहा है। अगर तू देखना चाहे, तो चुपके-से, किवाड़ों की ओट से उन्हें देख आ सकती है।'

मल्लिका बोली—'भाभी, अब तुम भी मुझसे ठिठोली करोगी ?'

तारिणी अपनी बड़ी भाभी को भी सब कुछ बता आयी। फिर उसने बाहरी बैठक से सबको भीतर बुलवा लिया।

जब सब लोग आ गये, तो मुस्कराती- मुस्कराती अपनी धवल दन्त-पंक्ति को थोड़-थोड़ा झलकाती हुई तारिणी बोली—'तो अब क्या होना चाहिये ?'

लोचन बाबू बोले—पण्डित जी को बुलाओ। देखो, इनके लिए भी यही मुहूर्त ठीक बैठता है ?'

और इस कथन के साथ ही, उसने रजनीकान्त को आदरपूर्वक अलग एक पलंग बिछाकर बैठाल दिया। तुरन्त पान देती हुई तारिणी कहने लगी—'मैं नहीं जानती थी कि राधे बाबू मेरी रुक्मिणी के लिए तुम्हारे जैसे कन्हैयालाल को अपने घर छिपाये बैठे हैं। नहीं तो मैं इतनी परेशान ही क्यों होती !'

पण्डित जी अभी घर पहुँच ही पाये थे कि फिर धर लिये गये। वे जब आये तो यह नया संवाद सुनकर दंग रह गये। बोले—'बिधिकर लिखा को मेटन हारा।' विवाह तो रजनीकान्त नाम के इस चन्द्रनाथ के साथ होना था, उस झुलसे हुए पलाश के साथ कैसे होता !'

दस-पन्द्रह मिनट में पत्री देखकर वे बोले—'वाह ! ऐसा शुभ मुहूर्त इनके लिए और दूसरा हो ही नहीं सकता।'

ब्राह्म मुहूर्त आ रहा था। लोचन बाबू इसी समय बोल उठे—'तो चढ़ाये के लिए आभूषणादि सामग्री घर से ले न आइये गये बाबू !'

राधाकान्त ने पुलकित होकर कहा—'अच्छा-अच्छा, मैं सब कुछ अभी लिये आता हूँ।'

तब उस घर भर में उल्लास का निर्झर-नाद गूँजने लगा।

३१

'अम्मा, रजनी का ब्याह मैंने एक जगह तै कर लिया है। चन्द्रमुखी-सी लड़की है वह। किसी दुष्ट के कहने में आकर बारात लौट गयी थी। कन्या में मिथ्या दोष लगाया जा रहा था। मैं उसे जानता था। मुझसे नहीं रहा गया। पूर्णिमा के पवित्र चन्द्र-सी बहू लेने का संयोग अकस्मात् हाथ लग रहा था। अभी रजनी को ले जाकर मैं वहीं छोड़ आया हूँ। लाओ, चढ़ाये के लिए आभूषणादि तो दे दो।'

एक सांस में राधाकान्त ये सभी बातें कह गया। उसकी माँ और बहिन मीरा उठकर बैठी हुई आँखें मिलमिला रही थीं। इन सभी बातों को एक साथ सुनकर सबकी सब चकित-विस्मित हो उठीं। उमा बोली—'वाह ! यह विवाह बड़ा अच्छा हुआ।'

राधाकान्त बोला—'लाओ, जो कुछ भी देना हो, जल्दी से दे दो। सब इसी मुहूर्त से होना चाहिये।

मीरा ने कहा—'कौन, किसी की लड़की है वह ? खूब जानी मानी है न ? कहीं ठग तो नहीं गये ?' इतनी जल्दी कहीं विवाह होते हैं !'

'तो क्या किया जाय' राधाकान्त ने कहा—आपत्ति के समय सब करना पड़ता है, लड़की और कोई नहीं, मल्लिका है, रमा बाबू की बहिन।'

उमा ने कहा—'मेरे जो गहने चाहो, लिये जाओ। साड़ियाँ और

लहँगा-लुगरा चाहो तो ट्रंक से निकाल लो। चलो, देवरानी तो आ गयी। मेरे कितने बड़े भाग्य हैं, जो अब मेरी सारी इच्छाएँ पूरी हो रही हैं।'

राधाकान्त ने आभूषणों में सोने के कंगन और इयर-रिंग ले लिये, पैरों की अँगुलियों में पहनने की चाँदी की दो-दो मछलियाँ और दो बढ़िया बनारसी साड़ियाँ।

माँ और मीरा मल्लिका का नाम सुनकर बड़ी प्रसन्न हुईं। मीरा बोली—'अम्मा, यह बहू तुम्हें बहुत अच्छी मिली। धन्य भाग्य! भगवान करे रजनी-मल्लिका की यह जोड़ी खूब फूले-फलें।'

माँ बोली—'मनोकामना पूरी होने को जब होती है, तब कभी-कभी ऐसा ही होता है!'

पाणिग्रहण-संस्कार हो जाने पर दूसरे दिन राधाकान्त तारिणी से कुल रुपये लेकर सेठ के पास जा पहुँचा और बोला—'बड़ा गजब हो गया सेठ जी। वह मकान तो पहले ही बिक चुका था, रेहननामे के कागजात मैं वापस ले आया हूँ।' पैंतिस सौ रुपयों में से डेढ़ सौ मित्रों की दावत आदि में खर्च हुए थे, जो उसने अपने पास से मिला दिये थे।

तारिणी ने राधाकान्त को रुपये तो वापस कर दिये। परन्तु रजनी को कुछ भेंट किये बिना उसका जी नहीं भरा। तब दूसरे ही दिन उसने आठ हजार रुपये मूल्य का एक मकान रजनीकान्त को संकल्प कर दिया। राधाकान्त बहुत इधर-उधर करता रहा। परन्तु तारिणी ने उसकी बात किसी तरह नहीं मानी।

× × ×

मल्लिका अपने घर आ गयी। लेकिन उसके दो दिन बाद ही जब राधाकान्त भुवाली जाने की तैयारी कर रहा था, एक दिन उमा का स्वर्गवास हो गया। मामूली ज्वर मात्र था। जोर की खाँसी आयी, उसके साथ खून के कतरे ढेर-के-ढेर गिर पड़े। और फिर घंटेभर में उसका देहान्त हो गया!

उमा का संस्कार कर लेने के बाद राधाकान्त मीरा बहिन और माँ के निकट आकर कहने लगा—'मैं तो अब बाहर जा रहा हूँ माँ। कब आऊँगा, इसका कुछ ठीक नहीं है! तारो को मैं तुम्हें सौंप जाता हूँ। बहू, तुम इसको अपनी ही बच्ची समझना।'

आज उसका यह 'बहू' सम्बोधन मल्लिका की ओर था।

रजनीकान्त बोला—'दद्दा, यह क्या बात है? कहाँ जा रहे हो तुम! हम लोगों को आखिर छोड़े क्यों जा रहे हो? हमने अपराध क्या किया है?'

राधाकान्त बोला—'रजनी, बात यह है कि यहाँ मेरा कोई काम तो अब रह नहीं गया। अब मैं कुछ और काम करूँगा। पर वह अपने लिये न होगा। वह होगा देश के लिये। तुम समर्थ हो गये। भगवान की दया से तुम सुखी रहोगे, इसका मुझे विश्वास है। यदि कभी-कभी इच्छा हुई, तो आकर तुम लोगों को देख जाया करूँगा।'

राधाकान्त जब चलने लगे तो सबके सब रो पड़े। माँ बोली—मुझे भी लिए चलो।'

राधाकान्त ने कहा—'माँ, मैं तुम्हारे ही काम से जा रहा हूँ। जैसी तुम मेरी माँ हो, हम सब भारतीयों की भी एक माँ है! आज वही मुझे पुकार रही है।'

अब तक मल्लिका चुप थी। ओट में खड़ी-खड़ी वह सब देख रही थी। राधाकान्त ने मकान की देहली के बाहर पैर रक्खा ही था कि मल्लिका ने अश्रु मुक्ताएँ टपकाते हुए कहा—'दादा?'

राधाकान्त मल्लिका का स्वर सुनकर रुक गया। रुक तो वह गया, लेकिन घूमकर लौटा नहीं। वहीं से बोला—'कहो, तुम भी कहो बहू।'

मल्लिका बोली—'क्या इसीलिये मुझे यहाँ ले आये थे? मैंने कभी कल्पना भी न की थी कि जब मैं आऊँगी, तभी तुम यहाँ से चल दोगे?

अरे, कुछ दिनों तक तो अपने पवित्र चरणों की सेवा करने का अवसर मुझे देते ?'

'लेकिन बहू, अभी मेरे आगे काम जो बहुत पड़ा है। अभी तक जो कुछ मैंने किया वह सब तो अपने लिये था। अब मैं दूसरी ओर जा रहा हूँ। ऐसे काम के लिए तुम मुझे रोक न सकोगी। तुम सती-साध्वी आदर्श हिन्दू नारी हो। तुम्हारी ही ऐसी देवियों पर देश का गौरव निर्भर है। समय आयेगा, जब तुम भी उसी ओर बढ़ोगी। तब तुमको भी कोई उधर आने से रोक न सकेगा।'

मीरा ने तिलक किया, माँ ने पीठ पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। रजनी और मल्लिका उसके चरणों पर गिर पड़े।

मीरा की गोद में से तारो बोली—'ताता तुम कहाँ दाते ओ ?'

राधाकान्त ने उसकी चुम्मी लेते हुए कहा—'तारो, मैं बाजार जाता हूँ, तुमको मिठाई लाने।'

बहुत दिन बीत गये, तब एक बार सुनाई पड़ा, कला प्रत्यक्ष रूप से गोकुल बाबू की हो गयी !

बहुत दिनों तक तारा से जब कोई पूछता—'तारा, चाचा कहाँ गये हैं ? तो तारा यही उत्तर देती—'बाजार गये हैं, मुझे मिठाई लेने।

और मल्लिका ?

वह कुछ सोचकर रह जाती।

कल्याणी

एक नाव पर तीन व्यक्ति आसीन हैं। पहला व्यक्ति अधेड़ है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है और केशों में जटायें पड़ गई हैं। वह काषाय वस्त्र धारण किये हुए है। वह साधु है। दूसरा व्यक्ति धोती की जगह लूँगी, बदन पर चारखाने की कमीज और उसके ऊपर काली इटैलियन का वेस्टकोट पहने है। उसके सिर के बाल कुछ बेढँगे तौर से बिखरे हुए हैं। उसकी आँखें लाल हैं और मुँह से ठर्रे की बू आ रही है। वह एक डाकू है और सात वर्ष की सजा काट कर लौटा है। तीसरी एक स्त्री है। उसके वस्त्र भीगे हुए हैं! वह करवट लिये चुपचाप लेटी हुई है और उसके मुँह से पानी के साथ-साथ लार बह रही है।

साधु मन-ही-मन कुछ सोच रहा है। वह अपने अतीत को देखता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह अपने पीछे एक लम्बा, घना और जटिल इतिहास छोड़ आया है। कुछ चीजें उसे याद आती हैं, कुछ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई हैं और ऐसा जान पड़ता है, मानो वे धुलकर, मिटकर, उजली पड़ती हुई गंगा की रेणु की भाँति ठंडी, शान्त, चिरशान्त और मूक हो गई हों।

डाकू बीड़ी पी रहा है। उसकी दृष्टि कभी साधु पर जा अटकती है, कभी उस स्त्री पर, जो मृत्यु के गले में बाहें डाले हुए स्थिर पड़ी हुई है; पर जिसकी साँस अभी जीवन के लाल पंजे से मुक्त नहीं हो सकी है।

साधु ने यकायक अपने सिर पर हाथ रक्खा, फिर उसे मस्तक और मुँह पर फेरा। इसके बाद अपनी दाढ़ी के भीतर अँगुली डालकर उसके

सूखे उलझे बालों को जैसे सुलझाता हुआ वह कहने लगा—'तो तुम सोचते होगे, तुमने यह बहुत बड़े पुण्य का काम किया है। क्यों ?

कहकर वह चुप हो गया फिर थोड़ा ठहर कर बोल उठा—लेकिन तुमने यह नहीं सोचा कि अपनी एक मात्र सन्तान जवान बेटी को पहचान कर, उसको डूबती हुई देख कर भी उसे न बचा कर एक तरह से उसकी हत्या करना कितना बड़ा पातक है ?

इस बार डाकू हँसा। क्षुद्रता के भाव से उसका निचला होंठ थोड़ा आगे बढ़कर फैल गया। बीड़ी धारा पर फेंककर वह बोल उठा—जिन्दगी में ऐसे कितने पातक किये बैठा हूँ, गिनाने बैठूँ तो पापों की वह गठरी खुलकर—बिखरकर—जानते हैं आपको किस नजर से देखेगी और क्या जवाब देगी ?

साधु पहले तो सन्न रह गया, किन्तु फिर सावधान होकर बोला—मुझे कुछ बुरा नहीं लगेगा। तुम जो चाहो, कह सकते हो।

डाकू साधु के इस उत्तर से जरा भी विचलित नहीं हुआ। वह बोला—वह कहेगी, साधु हो जाने पर भी वह मूर्ख ही बना रहा।

साधु के मुख पर हास्य की रेखायें दौड़ गईं। उसने नाविक की ओर देखा कि उसके श्याम नग्न स्कन्द और बाहु पसीने से चमक रहे हैं। तब वह बोला—अब नौका मत खेओ बन्धु। चिन्ता नहीं, देर हो जाय। लंगर डाल दो और थोड़ा आराम कर लो।

साधु की अँगुली अब भी दाढ़ी के बालों से उलझी हुई थी। डाकू की ओर देखते हुए उसने कहा—साधु को मूर्खों से भी प्रेम करना होता है, बन्धु। उसके लिए घृणा निषिद्ध है। तुम बुद्धि में बृहस्पति के समान उदित होओ, तुम्हारे लिए यह मेरा आशीर्वाद है। लेकिन यह तुमने नहीं बतलाया कि आखिर माँ का अपराध क्या था ?

डाकू सोचने लगा, यदि वह चाहता, तो तैरकर निश्चय ही अपनी इस युवती कन्या को बचा सकता था।

नौका जहाँ की तहाँ स्थिर है और नाविक का मन शांत है।

स्त्री ने यकायक करवट बदली। उसका दायाँ हाथ नाव के कठोर तख्ते पर कुछ जोर से जा गिरा। हथेली पर मेंहदी की लाल-लाल बुँद-कियाँ खिल उठीं। उसके कठोर उभरे हुए स्तनों का तनाव कंचुकी को फाड़ कर भीगी महीन साड़ी के भीतर से झलक उठा। उसके मुख की सोई हुई छवि जैसे स्वप्नावेश से मुखरित हो उठी।

डाकू ने फिर दूसरी बीड़ी सुलगाई। एक साथ कई कश लेकर वह बोला—इसने अपने पिता के साथ विश्वासघात किया। जब इसका पति लेने नहीं आया, तो कुछ ही वर्षों के बाद प्रतीक्षा और साधना का जीवन न अपनाकर यह किसी दूसरे के साथ भाग गई। फिर उसके यहाँ भी जब इसका निर्वाह न हुआ, तो उसने अपने शरीर का ही व्यवसाय शुरू कर दिया। चाहे यह चोरी करती—डाका डालती। यह और चाहे जो करती। पर इसने तो हमारी जाति के नाम पर बट्टा लगाया। यदि और कुछ नहीं कर सकती थी, तो क्या जहर खाकर मर जाना भी इसके लिए मुश्किल था?

साधु ने डाकू की बात सुनकर नाविक की ओर देखा। देखा उसकी आँखें झपक रही हैं। तब वह बोला—सोओ मत, बन्धु हमको बहुत दूर जाना है। लंगर उठा लो। अब हमें चला ही चलना है।

नाविक के बाद अबकी बार उसने उस स्त्री के सिर की ओर झुक कर उसके मुख को ध्यान से देखा। अब उसकी हृद्गति कुछ तीव्र हो रही थी। तत्काल ही उसका हाथ अब उसके भीगे सिर पर जा पड़ा और उसने अपने उत्तरीय से उसके भीगे केश पोंछ डाले। उसने उसके मस्तक पर हाथ फेरा और उसके मुँह से निकल गया—तुमको अभी जीना है, शक्ति माता! तुम्हें अभी सजग होना है। तुम हमको जिलाने के लिए पैदा होती हो। तुम्हारे मरने का कोई काम नहीं है।

डाकू साधु की चमकती आँखों को देख रहा था। कभी-कभी उसका समस्त शरीर जैसे कम्पित हो उठता था।

नाविक तेजी से नाव खेये जा रहा था।

साधु कहने लगा—इस पृथ्वी पर सब का अधिकार है, बन्धु। यहाँ पापी भी जीने के लिए हैं। लेकिन तुमने यह नहीं बतलाया कि इसके पति ने क्यों इसका त्याग किया था?

कथन के पश्चात् साधु की दृष्टि गंगा की धारा पर जा पड़ी। अब सूर्य्य-अस्त हो गया है। रात घनीभूत हो रही है। फिर उसने एक बार क्षितिज की ओर देखा। देखा, सभी कुछ एक-रस है। किनारा और किनारे का गाँव, धारा और उसका विस्तार, सभी समवर्ण है। आकाश तो शून्य है ही, जगत का शब्द तक शून्य है। हाँ, दूर—बड़ी दूर—कहीं-कहीं कुत्तों के भूकने का स्वर सुनाई दे जाता है।

डाकू कह रहा है—उन दिनों मैं घर ही पर था। इसके पति ने किसी बात पर नाराज होकर इसके पेट पर लात मार दी थी। उन दिनों इसके पेट में बच्चा था।

साधु ने भावावेश में अविलम्ब कह दिया—वह हत्यारा था। उसका अपराध क्षमा करने योग्य नहीं। अगर तुमको कभी उसका पता चल जाय, तो तुम उसे···।

एक बार यह भी उसके मन में आया, यदि नहाते हुए उसकी दृष्टि यकायक उस ओर न जाती, यदि वह तुरन्त तैरता हुआ उसे न बचा लेता······।

एक आँसू उसकी एक आँख से गिर पड़ा। उसका वाक्य अधूरा छूट गया और उसे स्मरण आ गया वह दिन, जब एक संस्था के अधिकारी ने उसके सम्बन्ध की अप्राकृतिक पतन-गाथा जान-सुनकर उससे कहा था काला मुँह कर जा यहाँ से, पापी, नीच, नाली के कीड़े। ईश्वर को डरता हूँ; नहीं तो, तेरी बोटी-बोटी कटवा कर नदी में फिकवा देता।

और एक गम्भीर, शान्त तथा स्थिर स्वर में वह बोल उठा—नहीं, तब भी तुम उसे क्षमा कर देना, बन्धु ! क्षमा से बढ़कर दूसरा दंड नहीं है। मनुष्य अपने अपराध का दंड प्रकृति से पा लेता है। शासन-व्यवस्था यदि उसे दंड न दे, तो समाज-प्रकृति उसे दंड देती है। उस समय आत्म-ग्लानि का दंड तुम्हें भोगना ही पड़ता है। अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने का दण्ड कोई दूसरे थोड़े ही देता है। पर जिस व्यक्ति को इतना भी ज्ञान नहीं कि कोई आत्मीय हो या अपने समाज का प्राणी, मानवता के नाते, उसकी हानि अन्त को है तो अपनी ही हानि, वह असल में मनुष्य ही नहीं है। वह पशु है।......पर तुमने यह नहीं बतलाया बन्धु कि इस नारी का पति इसकी किस बात पर इससे नाराज हुआ था ?

डाकू ने लक्ष किया, इस बार साधु ने उसकी कन्या को माँ सम्बोधन नहीं किया। उसने झट से एक बीड़ी निकाली और साधु को देते हुए कहा—"जरा तुम भी पीकर देखो, महात्मा !" दूसरी उसने अपने दाँतों से दबा ली।

साधु ने कहा—क्षमा कर दो, बन्धु। संसार की ज्वाला की आँच ही ऐसी कौन कर्म है, जो इस कृत्रिम आग से अपने को तपाने की चेष्टा करूँ !

तदनन्तर उसकी दृष्टि उस स्त्री पर जा पड़ी। नाविक ने फर्श के तखतों के नीचे से लालटेन निकाल कर, जलाकर सामने रख दी। कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे वह स्त्री कुछ बुदबुदा रही है। साधु ने लक्ष किया, उसके होंठ हिल रहे हैं। उसने उसका हाथ थाम कर नब्ज देखने की चेष्टा की। तत्काल उसके मुँह से निकल गया—विश्व को अपने भाग का कर्तव्य चुकाओ कल्याणी। तुमको जीना है। तुमको उठना है, तुमको मनुष्य जाति को मार्ग दिखाना है।

कथन के पश्चात् साधु ने एक निःश्वास ली। डाकू कुछ सोचने

लगा। उसे साधु के इस नये सम्बोधन पर आश्चर्य हो रहा था। वह बार-बार साधु को देखता था। परन्तु वह कुछ स्थिर न कर पाता था।

वह बोला—सुनते हैं, इसका अपराध यह था कि यह प्रायः सभी से हँस-हँस कर बातें करती थी! और स्वामी को इसकी यह बात पसन्द न थी। वह शायद इस पर अविश्वास करने लगा था।

अविलम्ब साधु के मुँह से निकल गया—वह नराधम था, बन्धु। उसका मुख देखना भी पाप है। इस समय फिर उसकी आँखों में जल छलछला आया। कुछ स्थिर होकर वह बोला—लेकिन नहीं, तुम उसे क्षमा ही कर देना, बन्धु। प्रकृति ने उसे दंड दे लिया होगा।

कथन के बाद उसने आकाश की ओर देखा। देखा, अन्धकार-ही-अन्धकार चारों ओर फैला हुआ है। किन्तु कुछ दूर पर एक ओर उसे ऐसा भी जान पड़ा, जहाँ अनन्त दीपक जल रहे थे। उसने नाविक की ओर देखते हुए कहा—उधर वह रोशनी कहाँ हो रही है?

नाविक मुसकराने लगा। वह बोला—आप इतना भी नहीं जानते, महात्मा जी!

निःश्वास लेते हुए साधु बोला—संन्यासी का ज्ञान खो गया है। उसका ध्यान खो गया है। वह भ्रम में पड़ गया है। वह कहाँ जा रहा है, यह भी नहीं जानता। वह कैसे कहे कि यह दीपमालिका है?

उसकी दृष्टि फिर रमणी की ओर आकृष्ट हो गई! वह आँखें खोल चुकी थी। कराहते हुए उसने कहा—आह! मैं कहाँ हूँ?...बड़ा दर्द है।

डाकू को पुत्री पर मोह उत्पन्न हो गया था! लेकिन वह कुछ स्थिर नहीं कर पाता था। कभी-कभी वह धारा की ओर कुछ खोजने लगता था।

हर्षातिरेक से साधु ने पूछा—कहाँ बन्धु? कहाँ दर्द है?...तुम नाव पर हो, तुम्हारा जीवन सुरक्षित है।

डाकू सोचने लगा—इस महात्मा को हो क्या गया है ! वह इस युवती को भी बन्धु कह कर पुकारता है। लेकिन ऐसा जान पड़ा, जैसे वह अब तक कुछ स्थिर नहीं कर पाया है।

युवती उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसे अपने पेट के पास ले गई और बोली—यहाँ···यहाँ। आँतें जैसे फटी जा रहीं हैं।

तत्काल साधु बोल उठा—मेरे पास दवा है। मैं दवा देता हूँ। तुम थोड़ी हिम्मत बाँधो मित्र ! तत्काल उसने झोली से एक बूटी निकाली और टेकनी से उसे कुचलकर उस युवती को खिला दी।

किन्तु इसी क्षण यकायक डाकू कुछ तीव्र और कम्पित स्वर में कहने लगा—मैंने कल्याणी और उसके स्वामी (आपको) क्षमा कर दिया है, महात्मा जी। लेकिन मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकता।

और यकायक वह उछला और उस अगाध जल में, उस निविड़ अन्धकार में, झम्म से कूद पड़ा। नाव एकाएक जोर से हिली और धीरे-धीरे सम्हल गई। कई एक भयानक हिलकोरे आये और क्रमशः मन्द पड़ गये। पानी के बुलबुले उठे और शान्त हो गये।

नाविक ने तत्काल डाकू को खोजने की भरसक चेष्टा की, किन्तु सब व्यर्थ।

थोड़ी देर बाद—साधु जब कल्याणी को दोनों बाहुओं पर लेकर अपनी कुटी की ओर ले जाने लगा, तो एक ओर उसकी कुटी का द्वार प्रकाश से जगमगा रहा था—दूसरी ओर उसका स्वस्थ मानस।

संतरे का छिलका

प्रमोदशङ्कर अपने आप बातें करता हुआ चला जा रहा है। नोट-बुक उसके बाँए हाथ में है। पारकर-फाउन्टेन-पेन कोट के जेब में। दायाँ हाथ खाली है। सिर के बाल खूब सघन हैं, बढ़े हुए भी। बालों के झुरमुट में गोरा मुँह वैसा ही समझो, जैसे घिरे हुए बादलों के बीच से दिन निकल रहा हो।

हाँ, तो प्रमोद बाबू अपने दाएँ हाथ की तर्जनी को मुट्ठी से निकाल कर, उससे दृढ़ता के साथ अपने सामने का गगन-मंडल चीरते हुए कहते जाते हैं—कुछ चिन्ता नहीं, जो कुछ होगा, उसे देख लूँगा।

कुछ सोचते और कुछ कहते हुए वे एक गली से गुजर रहे हैं। धीरे-धीरे एक ऐसे मकान के सामने जा पहुँचे हैं, जिसमें बाहर पूर्व और पच्छिम की ओर छोटी-छोटी दो कोठरियाँ हैं। हवादार हैं, साफ सुथरी हैं और टेबिल, कुर्सी और टेबिल-रैक से सजी हुई हैं। विद्यार्थी-जीवन के उपयोग के लिए विशेष रूप से बनवाई गई प्रतीत होती है। इन दोनों कोठरियों में एक-एक खिड़की सड़क की ओर को भी बनी हुई हैं। खिड़की के बाहर की ओर उसी आकार की छोटी चिक टँगी है। उसकी तीलियाँ पतली और पीली हैं। चारों किनारों पर नीली कोर है। मकान की कुर्सी सड़क से काफी ऊँची रखी गई है। इसलिए सड़क से इन खिड़कियों की ऊँचाई भी मनुष्य की लंबाई जितनी हो गई।

प्रमोद बाबू जैसे ही इस मकान की पच्छिम वाली खिड़की के सामने पहुँचे, वैसे ही संतरे का एक छिलका उनके ऊपर आ गिरा।

'अरे, छिलका आपके ऊपर जा पड़ा। माफी चाहती हूँ इसके लिए।

असल में मैंने आपको इधर आते हुए देखा नहीं था।' किसी ने जरा शरमाते हुए कहा।

प्रमोदशङ्कर इसी स्थल पर कहता आ रहा था—कुछ चिन्ता नहीं, जो कुछ होगा, उसे देख लूँगा।

अब उसकी कल्पना का प्रवाह रुक गया। उसका ध्यान भङ्ग हो गया। उसने देखा—उसके सिर पर संतरे का छिलका गिर कर उसके कोट से फिसलता हुआ उसके पैरों के पास आ गिरा। और उसी समय कोई उससे कुछ कहने लगा।

उसने एक बार खिड़की की ओर देखा और उसके भीतर से चिक को उठाए हुए किसी और को भी।

एक क्षण तक उससे कुछ कहते न बना, वह अपने आपको सँभाल न सका। वह मोहक रूप और यह सरलता! भोले मुख का मीठा स्वर कितना प्रिय लगता है।

संतरे के छिलके को उसने झुककर उठा लिया। एक बार उसी खिड़की की ओर देख कर उसने कहा—कोई हर्ज की बात नहीं। इसे तो मैं सौभाग्य की बात समझता हूँ।

वह इतना कह कर उसे देखकर, उसकी कुछ मुस्कराती और कुछ लजाती हुई छवि को पलकों से प्रणाम करके आगे बढ़ता गया।

(२)

शरत बाबू के 'चरित्रहीन' फिल्म की बड़ी धूम है। देहली में नवीन-भारत-पिक्चर-पैलेस का हाल भरा पड़ा है। फर्स्ट क्लास की दो सीट्स पहले से रिजर्व करा कर शरत कुमार अपनी बहन के साथ आया हुआ है। परदे पर प्रारम्भ के परिचय-दृश्य, जिन्हें हम भूमिका-भाग कह सकते हैं, आ जा रहे हैं। किन्तु शरतकुमार की बहन ने देखा—उसकी बाईं ओर की एक सीट अभी तक खाली ही है। कोई उसके उत्सुक कानों के भीतर

कहने-सा लगा—जो कोई भी हो, जिन्होंने रिजर्व करा रखा है, वे हैं सचमुच बड़े लापरवाह। अभी तक आए ही नहीं।

और इसी समय कोई झट से आकर उस पर बैठ गया।

अरे! वह एकदम चौंक-सी पड़ी। वह सिमिट कर साड़ी से अपने शरीर को अच्छी तरह ढक कर एक बार प्रशांत हो गई!

किन्तु वह प्रस्तर-मूर्ति तो थी ही नहीं, थोड़ी देर बाद ऐसे अवसर हठात् आने लगे, जिनमें उसकी नजर उचट कर उस ओर जा पड़े।

और यही बात उधर भी थी, वह भी बीच-बीच में उसे देख लेता था। अन्त में दोनों की अस्थिर जिज्ञासा परस्पर टकरा गई।

एक बार फिर कई हिलोरें आई और गई—आईं और गई। वह लो, 'इटवील' आ गया।

शरतकुमार बोले—तुम यहीं बैठी रहो, बड़ी भीड़ है; बाहर जाने और फिर लौटने में तुम्हें तकलीफ ही होगी, होगी न? हाँ तो तुम यहीं रहो, मैं अभी लौटता हूँ।

हाल योंही खचाखच भरा हुआ है और फिर लोग उठ-उठ कर बाहर जा रहे हैं। शोर-गुल होना ही चाहिए। हो कैसे न, आप किसी को रोक तो देखिये। आपके वही दोस्त जो 'एटीकेट' 'सिविलीजेशन' और 'डिसिप्लिन' के बड़े कायल हैं खीसें निपोर कर कह देंगे—अजी फिर यह तो हिन्दुस्तान है। हैं, हैं, अब इतना तो इसमें यह सब होना ही चाहिए।

और इसी गुल-गपाड़े में एक ओर दो हृदयों में परिचय हो रहा था।

'उस दिन तो आपका परिचय ही न पूछ पाया।'

'मुझे अपनी गलती पर दुःख रहा; आपने मुझे क्षमा कर दिया न।'

'उँह, वह भी कोई बात है!'

'क्यों नहीं।'

'छोड़िये भी उसे और हाँ, तो क्या हैली-गर्ल्स स्कूल में?'

'जी—और आप ?'

'मैं यूनिवर्सिटी का, बी० ए० फर्स्ट इयर का स्टुडेंट हूँ।'

'आपका परिचय पाकर खुशी हुई !'

'क्या मैं आपका नाम भी जान सकता हूँ ?'

'नाम ? नाम जानकर क्या कीजियेगा ?' वह इन्ट्रेंस—डोर की ओर देखने लगी।

'हर्ज ही क्या है ?'

नतमुखी होकर, आँखों से इशारा करते हुये उसने कहा—'भाई जी आ रहे हैं।'

एक मीठी हँसी के साथ उत्तर मिला—'क्या हर्ज है, उनसे परिचय करा दीजियेगा।'

(३)

कुछ दिन बाद चाँदनी चौक की एक दूकान पर—

'थोड़ा-सा कपड़ा चाहिये।'

'तशरीफ रखिये। आक्खा, आप हैं; खूब मिले। लीजिये पान खाइये। अरे भई मुलुआ प्रमोदशङ्कर जी को पान दो।'

'जी मैं पान नहीं खाता।'

'माफ कीजियेगा; मैं भूल गया था। लीजिए इलायची, हाँ, अब जरा इतमीनान से बैठ जायें।'

इलेक्ट्रिक-फैन का मुँह उधर ही कर दिया गया।

'हाँ, अब बतलाइए, क्या-क्या दिखलाऊँ ?'

'धोती जोड़े, कनानोर-काटन-क्लाथ, टेबिल-क्लाथ और सिल्क।'

इस विषय में और क्या-क्या बातें हुईं, शरतकुमार ने आज किस तरह कुल ५७॥=)॥॥ प्रमोदशङ्कर जी की पर्स से हँसी खुशीके साथ उड़ा लिये। ये सब बाजारू बातें हैं।

अन्त में शरतकुमार ने कहा—'कभी-कभी दर्शन दे दिया कीजिए। दिन भर यहीं रहता हूँ। शाम को अलबत्ता अकसर नहीं बैठता। उस वक्त मेरे चाचा साहब बैठते हैं।'

'मुझे वैसे पढ़ने से ही बहुत कम अवकाश मिलता है। परन्तु जब कभी तबियत ऊब उठती है तब घूमने या सैर-सपाटे को निकलना ही पड़ता है। ऐसे समय पर आपसे भी मिलने का ध्यान रक्खा करूँगा।'

'तो आज सायंकाल आइएगा ?'

'जी, आज तो एक जगह 'एँगेजमेंट' है। हाँ, कल सन्डे है। कल आ सकता हूँ।'

'आ सकता हूँ नहीं, कहिए 'आऊँगा'। बस, आप दूकान पर आ जाइएगा। वहाँ से मुलुआ आपको मेरे घर पहुँचा देगा···तो तब रहा न कल आपका आना, परन्तु किस समय ?···हाँ, ठीक है, साढ़े पाँच बजे।'

(४)

धीरे-धीरे परिचय इतना घनिष्ठ हो चला कि उस दिन प्रमोद यहीं सोया। वह यहाँ रात के १२॥ बजे तक ताश खेलता रहा और फिर यहीं सो रहा। सुबह हुआ लोग उठकर नित्य-कर्म में लगे, परन्तु प्रमोद सोता रहा। परन्तु चाँदनी को तो बहुत सबेरे स्कूल जाना होता है। वह बहुत सबेरे उठी। स्कूल ले जाने वाली लारी पर जाते समय वह एक बार दुछत्ते पर भी गई। उसने प्रमोद को जगाते हुए कहा—'अजी उठते हो कि सोते ही रहोगे।'

वह तुरन्त उठ बैठा। उसके पलंग के सिरहाने रक्खा हुआ फूलों का गजरा खुशबू की लहरें उड़ा रहा था। पखा मन्द गति से फर फर चल रहा था।

अपने बिखरे हुए और आगे की ओर झुके हुये बालों को पीछे को करते हुए प्रमोद ने कहा—'आज तुम्हारे स्कूल में छुट्टी नहीं है।'

'मेरे स्कूल में इतनी छुट्टियाँ नहीं होतीं।'

'तो आज न जाओ।'

'यह कैसे हो सकता है ?'

'हो क्यों नहीं सकता ? चाहो तो सब कुछ हो सकता है।'

जरा हँसकर उसने कहा—'जाओ तुम बड़े वैसे हो।'

प्रमोद ने भी इठला कर पूछा—'कैसे जी ?'

चाँदनी जाने को हुई तो प्रमोद उसका रास्ता रोकने को दरवाजे की ओर बढ़ा।

यह देखकर चाँदनी ने जल्दी से जाना चाहा और हड़बड़ी में उसकी साड़ी का किनारा चौखट की कील से अटक कर फट गया।

'अरे यह क्या हुआ ? अब !!!'

'तो फिर मानती क्यों नहीं हो; मेरा कहना ? कितनी देर से कह रहा हूँ, आज स्कूल मत जाओ।'

चाँदनी का मुँह जरा गंभीर हो गया। परन्तु उसने कहा—'अच्छा, तो नहीं जाऊँगी। अब तो हुआ।'

(५)

दो वर्ष बाद—

अब प्रमोदशङ्कर मेरठ के एक हाई स्कूल में टीचर है। वह सदर बाजार के एक बँगले में रहता है।

उसके घर के आत्मीय लोगों को यही मालूम है। जो लोग आते हैं, उनसे वह मिलता है, तो वहीं मिलता है। नहीं तो, नहीं भी मिलता। वह एक हाई स्कूल में टीचर है, ट्यूशन भी उसे बहुत करनी पड़ती है। शहर का खर्च ठहरा। नहीं तो १२०) मासिक में उसका निर्वाह ही कैसे हो सकता है। कारण, ५०) रुपये मासिक तो वह अपने पिता को ही भेजता है।

परन्तु, प्रमोदशंकर प्रायः रात को और कभी-कभी दिन को भी चौक के और भी एक मकान में रहता है। उसके जीवन की सरिता, उसके प्राणों की निधि, उसकी आत्मा की ज्योति 'चाँदनी' वहीं रहती है—अकेली, नीरव, निश्चल गति से। उसने उसे वहीं ला रखा है।

प्रमोदशंकर के ये दिन बड़े आनन्द से कट रहे हैं।

परन्तु ये दिन उसने दिल्ली के एक सम्पन्न कुटुम्ब की मान-मर्यादा को मिट्टी में मिलाकर, उसकी आँखों में धूल झोंक कर देखे हैं। और इसके लिए उसे अपने जीवन को खतरे में डालना पड़ा है, सैकड़ों रुपए का मोह छोड़ कर उन्हें पानी की तरह बहाना है। उसका ख्याल है कि उसका यह त्याग कुछ कम मूल्यवान नहीं है।

× × ×

प्रमोद के घर में उसके भाई हैं, माता-पिता हैं। कई वर्ष से वे इस बात की पूरी चेष्टा कर रहे हैं कि प्रमोद विवाह कर ले, पर वह बराबर टालता जा रहा है। परन्तु अब वह इस बात को कहाँ तक टाल सकता है। अनेक बार प्रमोद की माता ने भी उसके साथ जाकर रहने की इच्छा प्रकट की, पर वह बराबर सुनी-अनसुनी करके टालता रहा है। परन्तु वह अपनी माँ की इच्छा को और आगे कहाँ तक टाल सकता है।

आज प्रमोद ने खाना तो खा लिया, लेकिन कुछ अन्यमनस्क भाव से। वह हर समय चुहलबाजी में निरत रहता आया है। हँसना ही उसका जीवन है। वह कहता है कि हँसते हुए उत्पन्न होओ, हँसते-खेलते जीवन व्यतीत करो और एक दिन हँसते-हँसते हुए ही सदा के लिये विदा भी हो जाओ। मानव-जीवन का यही चरम सुख है। परन्तु, आज प्रमोद स्वयं अपने इस सिद्धान्त को भूला हुआ है।

चाँदनी बोली—"अरे! आज तो तुम यों ही उठ गए! क्या कुछ तबियत खराब है?"

"तबियत तो खराब नहीं है, लेकिन......।"

"लेकिन......क्या ?"

"कुछ ऐसी ही बात है। अब क्या बताऊँ तुमको।"

"क्या मेरे जानने लायक नहीं है ?"

"हाँ, यही समझो !"

प्रमोद पलंग पर लेट रहा। चाँदनी भी थोड़ा-बहुत जो कुछ भी वह जबरदस्ती खा सकी खा-पीकर उठ बैठी। दस मिनट बाद वह भी उसी कमरे में आ पहुँची।

इधर चाँदनी के हृदय में हलचल मची हुई है। ऐसी कौन सी बात है जिसे ये मुझे बताना नहीं चाहते। और इधर प्रमोद अपने माता-पिता के आमंत्रण को भी ठुकराना नहीं चाहता।

कोई उसके पापी मन में हुंकार-सी उपस्थित कर बैठा। वह सोचने लगा—सारी तैयारी हो चुकी है, केवल मेरे पहुँचने भर की देर है। पिता जी ने सारा प्रबन्ध कर रखा है। दिदिया को उस दिन कहते हुए सुना भी तो था। कह रही थी—"अम्मा, सच जानो, भाभी इतनी सुन्दर है, जैसे गुलाब का फूल।"

और चाँदनी सोचने लगी—इनका यह हाल आज कई महीना से देख रही हूँ। जब कभी बातें करते हैं तो, मुझे भ्रम न हो, इसलिये ऊपर से हँस देते हैं। भीतर का प्यार चीज ही और है। उसे बताना थोड़े ही पड़ता है। वह तो छलकता हुआ प्याला-सा रहता है। प्यार की सच्चाई रोम-रोम से झलकती है। प्रमोद, जो अभी पलंग पर करवटें बदल रहा था, उठ बैठा। कुछ क्षणों तक वह चाँदनी की ओर देखता रहा। फिर एकदम बोल उठा—सुनती हो चाँदनी, तुमको दस दिन तक यहाँ अकेले रहना होगा। मुझे कल घर जाना है। पिता जी ने बुलाया है। कोई जरूरी काम है।

प्रमोद की दृष्टि इस समय चाँदनी के मुँह की ओर नहीं थी, उसकी

मुद्रा बहुत गंभीर थी। वह द्वार की ओर देख रहा था। इतना साहस उसमें न था कि वह उसकी ओर देखकर यह बात कह सकता।

चाँदनी के हृदय में जैसे तीर-सा चुभ गया। वह एकदम अप्रतिभ हो उठी, पर बोली नहीं। वह कुछ कहना चाहती थी, कुछ पूछना चाहती थी। पर मुँह खोलने को उसका जी न चाहता था। इतने सोच-विचार के बाद अब उन्होंने यह बात बतलाई है, अब चलने को कुछ ही घण्टे रह गये हैं। अगर इस यात्रा में कोई भेद नहीं है, तो इतना छिपाव क्यों है? यदि कोई वैसी बात नहीं है, तो सहल स्वभाव से ही समयानुसार यह बात क्यों नहीं कह दी गई। फिर बात कहते मेरी ओर देखना तक इन्हें गवारा नहीं है। यह बात क्या है? चाँदनी देर तक यही सोचती रही। उसे रात भर नींद नहीं आई। करवटें बदलते हुए उसने सारी रात बिता दी।

सवेरा हुआ। चिड़ियों की चहक सुनाई पड़ने लगी। प्रमोद चुप-चाप उठा। ताँगा बुलवाकर असबाब उस पर लदवाने चल दिया। वह कुछ कह न सका। निष्ठुरता का भूत उसके सिर पर सवार था। वह रात से ही बारबार यही सोच रहा था इतना अभिमान! नारीत्व का अभिमान ही तो मैं सहन नहीं कर सकता।

इधर चाँदनी इस प्रतीक्षा में थी कि वे अब कुछ कहते हैं—अब कहते हैं। पर जब वह चलने ही लगा तो चाँदनी रोती-सिसकियाँ भरती हुई द्वार पर आ गयी। उसकी आँखें लाल थीं, उसके होंठ सूखे हुए, बाल बिखरे हुए थे। वह एक कपाट के सहारे खड़ी-खड़ी रोती रही।

प्रमोद ने एक बार उनकी ओर देखा। वह सोचने लगा यही इनका अमोघ अस्त्र है। इसी को काम में लाकर ये पुरुष जाति को सदा ठगती रहती हैं। किन्तु इसका यह पाखंड प्रमोद पर नहीं चलेगा, नहीं चलेगा। माता-पिता की कामना के आगे इस पाखंड विडम्बिनी की ओर देखना भी पाप है—अपराध है।

प्रमोद ने ज्योंही ताँगे पर पैर रखा, त्यों ही वह चल दिया।

चाँदनी से अब रहा न गया। वह रोती हुई दरवाजे तक चली आई थी। इसी समय वह बोली 'तो मेरे लिये क्या कहे जाते हो ?'

किन्तु ताँगा हवा से बातें करने लगा। प्रमोद अगर इसका जवाब देने को रुकता है, तो उसकी गाड़ी भी तो छूट जाती है। वह घड़ी की ओर देखने लगा। एक बार जी में आया कि वह कह दे—दस दिन बाद लौटूँगा। रोना-धोना बेकार है; पर तब तक ताँगा और आगे बढ़ गया। सोचा—उँह, अब इतना टाइम ही कहाँ रह गया है ?

(६)

धूमधाम के साथ प्रमोद का विवाह हो गया।

अब फिर—प्रमोद के समक्ष नया संसार था। उसके जीवन के क्षण नव-पत्नी से बात-चीत, मनोविनोद तथा मनोभावों के आदान-प्रदान में व्यतीत होने लगे। यदा-कदा उसे चाँदनी की याद आ जाती थी पर वह उस ओर उत्तरोत्तर अन्यमनस्क रहने लगा था।

यों ही, दिन जाते देर नहीं लगती। पर आजकल तो आनन्द के दिन थे। देखते-देखते दस दिन तो समाप्त हो गये। अन्तिम दिन जब प्रमोद के चलने की सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं और जब वह चलने को उद्यत होकर चल ही दिया तब यकायक एक अशगुन हो गया। सामने ही एक गाय ने छींक दिया। पंडितों से पूछा गया। उन्होंने बतलाया कि गाय की छींक कालरूप मानी गई है। निदान विवश होकर यात्रा स्थगित करके तार देकर, एक सप्ताह की छुट्टी और बढ़वा लेनी पड़ी। इस समय प्रमोद को एक बार चाँदनी की याद आ गयी। एक बार उसके जी में यह भी आया कि उसको भी एक पत्र लिख दूँ। पर उसने सोचा, पत्र लिखने से क्या होगा ? अब कौन बहुत दिन रहना है। एक सप्ताह तो रहना ही है। फिर अब यह पचड़ा जितनी जल्दी अपने से पृथक हो जाय, उतना ही अच्छा।

पलक मारते एक सप्ताह और कट गया।

नवपत्नी का नाम था किशोरी। और किशोरी थी भी अपने नाम के अनुरूप ही। उसके रूप में अद्भुत आकर्षण था। उसकी आँखों की धार हृदय को छूती थी और उसका मुसकराना—जीवन के उद्यान में गुलाब के फूल बिखेर देता था।

प्रमोद एक सप्ताह के अनन्तर मेरठ चला तो आया; पर अपनी नवभार्या के वियोग में निरन्तर अगम गंभीर रहने लगा। वह दिन व्यतीत हो गए। पर वह चाँदनी से मिलने न गया, तो नहीं ही गया। कुछ दिनों बाद, जब उसकी नवपत्नी, विदा हो गयी, तब एक दिन जो चाँदनी के यहाँ गया भी, तो देखा मकान खाली है।

उधर चाँदनी के जीवन में मातृत्व के उदय के चिह्न प्रकट हो रहे थे। सहज लज्जावश उसने इस रहस्य को प्रमोद से छिपा रखा था। वह दिन पर दिन कृशकाय पीतवर्णा तथा विषादमयी हो रही थी। उस पर यह नई आपत्ति और आ पड़ी। उसके प्राणाधार ने भी उसे छोड़ दिया था। ज्यों-त्यों करके वह अपने दिन काट रही थी। उसे इस बात की पूरी आशा थी कि वह पुत्र-जन्म से निवृत्ति पाकर अपना स्वास्थ पुनः प्राप्त कर लेगी और उसके जीवनामृत प्रमोद फिर उसे अपना कर नवोल्लास के साथ एक लीलामय संसार की सृष्टि करेंगे। परन्तु, अब यह हो क्या गया! वे दस दिन में लौटने को कह गये थे। पर आज पूरा एक मास हो गया और वे लौटे नहीं। कोई संदेश तक उन्होंने नहीं भेजा—कोई पत्र तक नहीं लिखा! धीरे धीरे उसने अपने प्रियतम के पुनरागमन की आशा छोड़ दी। कई सप्ताह उसने रो रो कर बिताए। वह अनेक दिन निराहार रही; पर वह करती तो क्या करती। वह अपने प्राण तो बात की बात में उत्सर्ग कर सकती थी, पर अपने शरीर में पलने वाली जीवन-धारिणी नवीन आत्मा का बलिदान वह कैसे करती!

और तिस पर हिन्दू नारी थी। पढ़ी-लिखी पुनर्जन्म में विश्वास

रखने वाली। उसकी भूखी शक्ति जाग उठी। अपने शरीर से यह अवश्य अशक्त थी, पर उसकी विचार-शीलता मर थोड़े ही गई थी। उसके पास पैसों की कमी न थी। वह डेढ़ हजार रुपये का माल अपने साथ लाई थी। अनिश्चित काल और संकटपूर्ण परिस्थिति पर उपयोग में आने के लिए उसने इसे सुरक्षित रख छोड़ा था। इसी के आधार पर धैर्य के साथ वह जीवन व्यतीत करने लगी।

और तीन मास बीते। चाँदनी ने पुत्र प्रसव किया। प्रसव-काल आने पर वह अपनी नौकरानी के साथ हास्पिटल चली गई। इस बीच प्रमोद उसका घर खाली पाकर लौट गया। पुत्र जन्म सकुशल हो जाने पर वह फिर अपने मकान पर लौट आई। दो-ढाई मास उसने अपने स्वास्थ सुधारने में लगाए और तदनंतर प्रमोद की ओर से निराश होकर वह एक दिन इलाहाबाद चली आई। यहाँ क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज में सम्मिलित होकर वह फिर अध्ययन में लग गई। बच्चे का नाम रक्खा गया नवीनचन्द्र। वह अपनी माता के नवीन संसार में पल कर पूर्ण स्वास्थ्य के साथ जीवन के पग आगे बढ़ाता गया।

कुछ ही दिनों में चाँदनी ने अपनी योग्यता, अध्ययन, तत्परता और निर्मल चरित्र के बल पर कालेज के बोर्डिङ्ग में अपने लिये एक सम्मान का स्थान बना लिया। समय निकाल कर उसने दो-तीन सम्मानपूर्ण ट्यूशन भी कर लिये। इस प्रकार उसकी जीवन-धारा उत्तरोत्तर प्रवाह-शील होती गई।

(७)

मनुष्य वासनाओं का अनुचर है। वह अपने निजी संसार का निर्माण करते हुए सदा अपने बाहुबल का भरोसा रखता है। ईश्वर की ईश्वरता मूर्तिमयी होकर उस समय उसके सामने या तो आती नहीं, या वह उसे भ्रम से, प्रमाद से—अहंकार और दंभ से, अपनी सामर्थ्य के

सामने क्षीण समझने लगता है। पर, सोचने की बात यही है कि मनुष्य कितना परवश है।

× × ×

प्रमोद आज फिर विधुर है।

किशोरी ससुराल से अपने पिता के घर आते-आते क्षय रोग से आक्रांत हो गई। दूसरे वर्ष जब प्रमोद के पिता उसका गौना लेने का विचार कर रहे थे, तो एकाएक एक दिन उसके स्वर्गवास का संवाद पाकर स्तम्भित होकर रह गए।

अब तो प्रमोद के जीवन की गति-विधि में विपर्यय उपस्थित हो गया। वह अनुताप की अग्नि में जलने लगा। उसके आहार और रहन-सहन का क्रम अनियमित हो गया। पिता ने बहुत समझाया, बेटा यह तो संसार है। यहाँ तो यह सब हुआ ही करता है। तुम इतने उदास भला क्यों होते हो। इसी वर्ष वैशाख में तुम्हारा दूसरा विवाह कर दूँगा। निराश होने की जरा भी जरूरत नहीं है। पर, प्रमोद के हृदय में किस प्रकार हाहाकार हड़कंप मचा रहा था, यह कौन समझ सकता था। बार-बार वह यही सोचने लगता—यह मेरे ही कर्मों का फल है। मैंने चाँदनी को धोखा दिया—और ईश्वर की ईश्वरता ने किशोरी के द्वारा मुझे इसका बदला दिया। उसे किशोरी के स्वर्गवास का अब उतना दुख नहीं था। उसकी मृत्यु तो स्वाभाविक ही थी। पर चाँदनी के साथ उसने जिस प्रकार व्यवहार किया, उसके कारण, अपनी चरम नरपशुता के कारण वह पश्चाताप की अग्नि में जल रहा था। वह खाने को बैठता तो चाँदनी का रोता-सिसकता हुआ मुख उसके सामने आ जाता था। उसके यह शब्द—'मेरे लिये क्या कहे जाते हो?' उसके कर्ण-गह्वर को विदीर्ण करने लगते थे। जिधर वह देखता, उधर स्वप्न के कल्पित पट पर चाँदनी ही चाँदनी दीख पड़ती थी। बारबार उसे यही भ्रम होता, जैसे रात हो गई है। आधी रात का सन्नाटा है। वह ताँगे पर सवार होकर

चल रहा है। और चाँदनी सिसकियाँ भर कर, रोकर, चिल्ला कर, कह रही है—"तो मेरे लिये क्या कहे जाते हो ?" प्रमोद कभी-कभी विक्षिप्त-सा हो जाता, सोते सोते वह एकदम से उठ बैठता और अपने कमरे में टहलने लगता। वह अपने दुष्कर्म की मीमांसा करने लगता। वह सोचता यदि मैं अपनी कथा किसी से कहूँ तो क्या वह उस पर विश्वास करेगा। क्या वह यह सोचेगा कि मनुष्य यहाँ तक पतित हो सकता है। और यदि कोई व्यक्ति अपनी इस प्रकार की कथा मुझ से कहता, तो क्या मुझे उस बात पर विश्वास होता। सचमुच क्या मैं यह मान लेता कि कोई व्यक्ति इतना नीच हो सकता है। क्या वह अपनी वासना की पूर्ति के बाद अपनी प्रियतमा को उपेक्षा के गर्त में ढकेल कर क्या विवाह कर सकता है ? कभी नहीं ! कभी नहीं !! और हाय ! मैंने वही किया !!!

रात के १।। बजे हैं और प्रमोद यही सब सोचकर रो रहा है। रोते हुए उसे बड़ी देर हो गई है। उसके माता-पिता उसके निकट बैठे हुए उसे समझा रहे हैं। पर प्रमोद का रोना बन्द नहीं होता है, सिसकियाँ एक के बाद दूसरी आ-जा रही हैं। वह आज जी भर कर रो लेना चाहता है। आज वह रोते-रोते निश्चेष्ट, चिरस्थिर हो जाने तक की गति चाहता है। पर कहाँ ? ऐसा भी क्या हो सकता है ? अन्त में प्रमोद को रोना बन्द करना पड़ा। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गईं, पुतलियाँ रक्त-वर्ण हो उठीं और उसका जी भी कुछ हलका हुआ। थोड़ी देर में वह सो गया और बड़ी देर तक सोता रहा। कई दिन से वह सो भी तो नहीं सका था।

आज प्रमोद नौ बजे सोकर उठा। उठकर उसने झट से स्नान किया। तदन्तर उसने भगवान् के चरणों में मन लगाया। पूजा के लिये वह आसन बिछवा कर बैठ गया। पहले उसने रामायण पढ़ी। फिर गायत्री मंत्र का जाप किया। डेढ़-घण्टे में उसकी पूजा समाप्त हुई। तब

स्वस्थ चित्त होकर उसने भोजन किया। भोजन करके वह फिर सो गया। सोकर उठा और मकान के बाहर एक ओर को चला गया।

तब से फिर प्रमोद नहीं लौटा। बहुत खोज की गई, पर, कहीं उसका पता न चला।

(८)

कई वर्ष व्यतीत हो गये।

माघ शुक्ल प्रतिपदा का दिन है। माघी अमावस्या का अगला प्रभात। प्रयाग के त्रिवेणी-संगम पर जितनी भीड़ कल थी, आज उतनी नहीं है। क्रास्थवेट गर्ल्स-कालेज की अनेक छात्राएँ एक बोट पर सैर-सपाटे को निकली हैं। एक मात्र स्नान करने की ही कामना से इनका शुभागमन यहाँ नहीं हुआ है। मुख्य हेतु मनोरंजन है। आपस में चुहलबाजी चल रही है। किसी का नाम है निरुपमा, किन्तु उसकी सहेलियाँ उसे निरू कहती हैं। किसी का नाम है मल्लिका, पर उसे कहा जाता है लकी। कभी-कभी कोई-कोई इसे बिगाड़ कर लकी भी कहने लगती हैं। इनमें चाँदनी भी आई हुई है।

गऊ घाट से नाव की गई थी। अब वह किले के समीप थी। निरू बोली—मैना! अरी ओ मैना!

यह नाम मृणालिनी का रक्खा गया था, पर वह उसे पसन्द न करती थी। उसे इस नाम पर चिढ़ थी। और इसीलिए वह इस नाम से पुकारने या संबोधन करने पर बोलती न थी।

निकट बैठी हुई निरू ने उसकी चुटकी काट ली और लकी की ओर मुँह फेर लिया।

गम्भीर होकर मृणालिनी बोली—मुझे ये बातें पसन्द नहीं हैं निरू!

लकी ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—'तो जो-जो बातें आपको पसन्द हों वही की जायँ? पर पहले से उनकी जानकारी भी तो होनी

चाहिए।···यह लो मैंने नोट-बुक निकाल ली, अपनी पसन्द की बातें मुझे नोट करा दो।

निरू बोली—'हाँ, कृपया···!' कथन के साथ वह कनखियों से हँसती भी जाती थी।

चाँदनी अब तक चुप थी। अब वह भी कहने लगी—'हाँ, मेरी प्यारी मैंना, कह तो सही, अभी कह, तेरी इच्छा क्या है—तू चाहती क्या है?'

अब सब के अधर-पल्लव खिल उठे।

इसी क्षण निरू बोली—'अब आप लोग गम्भीर हो जायँ। मैं प्रस्ताव करती हूँ कि आज सभानेत्री का स्थान गंभीरमना श्रीमती मृणालिनी देवी स्वीकार करें!'

लकी बोल उठी—'मैं इसका अनुमोदन करती हूँ।'

चाँदनी बोली—'और मैं समर्थन।'

शिशु नवीन चन्द्र चाँदनी के पास ही बैठा हुआ था। वह भी बोल उठा—'मैं बी इछता छमलथन कलता हूँ।'

मृणालिनी का रोआँ रोआँ बिहँस उठा। नवीन को उसने गोद में भर लिया। उसकी चुम्मी लेती हुई बोली-तू बड़ा राजा बेटा है।

चाँदनी वात्सल्य सुख की लहरियों में ओत प्रोत हो उठी।

नाव पहले प्रवाह की ओर थी। धीरे-धीरे अब वह संगम के निकट जा पहुँची।

इसी समय दैवयोग से उसी नाव के निकट एक दुर्घटना हो गई। कोई एक साधु जो वहाँ नहा रहा था, डूबने लगा। किन्तु उसे डूबते हुए कुछ लोगों ने देख लिया। अन्त में दो मल्लाह उसकी ओर बढ़े और उसे निकाल लाये। तदन्तर उसे सेवा-समिति के हास्पिटल में लाये।

निरू बोली—'उँह, ऐसा तो होता ही रहता है। चलो हम लोग भी अब नहा लें।'

लकी ने कहा—'हाँ, समय का भी ध्यान रखना है। आज चार बजे से हिन्दू संस्कृति पर महामना मालवीय जी का भाषण भी तो सुनना है।

मृणालिनी भी कपड़े उतारने लगी। सभी छात्राओं ने मिलकर खड़े-खड़े एक वृत्त बना लिया। देर तक सब की सब खूब स्नान करती रहीं।

स्नान के अनन्तर सभी छात्राएँ मेला देखने को चल पड़ीं। सेवा-समिति के हास्पिटल के निकट पहुँची, तो लकी बोली—'चलो, यहाँ की व्यवस्था भी तो देख लें।'

निरू कहने लगी—'यहाँ क्या देखोगी ? यहाँ देखने को है ही क्या ?'

लकी ने उत्तर दिया—'वाह ! देखने को क्यों नहीं है ? अपने देश की एक सुसंगठित सर्वमान्य संस्था के लिये ऐसा कहना अनुचित है। फिर और कुछ भी चाहे न देखो, पर इस बात का तो पता लगा ही लो कि आखिर उस महात्मा का क्या हुआ ?

निरू बोली—हाँ, यह तुमने ठीक कहा। बेचारे कहीं टें न बोल गये हों।'

तब उस महात्मा जी की खोज में सभी छात्राएँ चल पड़ीं।

(६)

आयु ऐसी अधिक नहीं है, यही तीस, बत्तिस के लगभग जान पड़ती है। सम्भव है, और भी कम हो। वर्ण गोरा है, शरीर कृश, दाढ़ी के बाल भी अभी अधिक बढ़ नहीं पाये है। सिर पर जटाजूट भी नहीं है। चोटी और यज्ञोपवीत का भी पता नहीं है। आँखें बन्द किए पड़े हैं, ज्वर हो आया है। कभी-कभी कुछ बड़-बड़ाने लगते हैं।

एक स्वयंसेवक कह रहा था—'बड़े विद्वान हैं, जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म पर इधर कई दिनों से इनके भाषणों की धूम मची हुई है। अँगरेजी भाषा पर भी पूरा अधिकार है।'

दूसरा कहने लगा—'पर एक बात बड़ी विचित्र जान पड़ी। जब मैं इनकी भीगी लुंगी इनके शरीर से निकालने लगा, तो इनकी कमर में बँधी हुई—कागजों में लिपटी हुई एक सुन्दर छोटी 'पर्स' निकली। पर उसमें रुपया-पैसा तो कुछ निकला नहीं। निकली क्या—एक नाचीज, जिसका कोई मूल्य नहीं ;

× × ×

चाँदनी सशंकित हो उठी। बड़े ध्यान से वह स्वयंसेवकों की ये बातें सुन रही थी। अन्तिम शब्द सुनते-सुनते उसके हृदय में एक हलचल मच गई। उसके मुख की लालिमा मन्द होते होते श्वेत-सी होने लगी। अपलक दृष्टि से उस समय वह उन महात्मा को देख रही थी।

इसी समय उस स्वयंसेवक ने एक पर्स से एक चीज निकाल कर उसे जमीन पर पटकते हुए कहा—यही तो है वह 'संतरे का छिलका।'

पर उस समय तक चाँदनी मूर्छित हो चुकी थी।

प्रतिघात

मैंने फिर उस दिन, तुम्हारे यहाँ, न तो सबेरे की चाय पी और न कुछ खाया पिया। मैं चुपचाप एक कमरे में पड़ा रहा। सो तो नहीं सका, किन्तु जान पड़ता है, अधिकांश व्यक्तियों ने समझ यही रक्खा था कि प्रगाढ़ निद्रा के कारण ही मैं उठ नहीं रहा हूँ। हाँ, किरण सबेरे से लेकर नौ-साढ़े नौ बजे तक कई बार मेरे निकट आई। उसने दो-एक बार पलंग के निकट खड़ी होकर मुझे बुलाया—'दद्दा! दद्दा! किन्तु जब मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, तो फिर उसने मुझे झकझोरा भी। कई बार हिलाया-डुलाया। लाचार होकर मैंने मौन भंग करते हुए केवल इतना कहा—मुझे भूख नहीं है। कुछ भी खाने की इच्छा नहीं है। तू व्यर्थ मुझे क्यों परेशान कर रही है!

मेरे इस शुष्क कथन पर वह थोड़ी देर के लिये कुछ अप्रतिभ-सी हो गई। किन्तु लगातार कई मिनट तक चुपचाप, ज्यों-की-त्यों, स्थिर खड़ी रहकर, अन्त में पलटा लाकर, वह थोड़ी मुस्कराई, और बोली—तो फिर दिदिया ने कहा है कि उपवास करने के लिये मेरा घर नहीं है। आए ही हो, तो मेहमान की भाँति, हम लोगों की रुचि के अनुसार, ठीक तरह से रहो······।

वह आगे शायद यह भी कहना चाहती थी कि 'नहीं तो चले जाओ।' किन्तु उसकी बात के इस अशिष्ट अंश को अपने निकट तक न लाने देने के अभिप्राय से मैंने उसी क्षण कह दिया कि अपनी दिदिया से जाकर कह दो—उनके आदेश का ख्याल करके मैं अभी तुरन्त यहाँ से चला जाता हूँ।

किरण तब अत्यधिक गंभीर हो गई, मैंने लक्ष किया कि यदि मैं इतना कहने के पश्चात् वास्तव में तुरन्त चल ही दूँ, तो उसी क्षण उसकी आँखें भर आएँगी। कुछ क्षणों तक, नमित दृष्टि से, सकुचाई हुई, वह मौन भाव से, ज्यों-की त्यों खड़ी रही और मैं बराबर यही सोचता रहा कि अब यह कहने ही वाली है कि इतनी जल्दी आप न जायँ। किन्तु प्रकट रूप से उसने मुझसे किसी प्रकार का कोई आग्रह नहीं किया, यद्यपि आज मैं सोचता हूँ कि उसके एक बार के भी आग्रह को मैं किसी तरह टाल नहीं सकता था, किन्तु उस समय न तो उसकी अंतरात्मा की पुकार को ही मैं समझ सका, न उसके भाव-गर्वित उस मूर्तित मौन को। अगर कुछ समझ सका, तो केवल यह कि वह नहीं चाहती कि मैं इसी तरह से चला जाऊँ। इसके सिवाय मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि प्रभा की बात को यथार्थ परुष रूप से कह देने के कारण उसे बड़ा खेद हो रहा है। किन्तु यह विचार भी एक क्षण से अधिक मेरे अंतःकरण में टिक न सका, और फलतः मैं उठकर चल दिया।

वास्तव में उस समय मैं अत्यधिक भावोद्रेक में था। मैं नहीं जानता था कि जो पथ मैं ग्रहण कर रहा हूँ, वह मेरे लिये किसी प्रकार प्रशस्त नहीं हो सकता। मेरे सामने तो प्रभा के इस व्यवहार की प्रतिक्रिया-मात्र थी। मैं तो येन-केन-प्रकारेण उसे प्रतिहत करना चाहता था।

चलते हुए मैं केवल यही सोचता था—माना, तुम एक सौभाग्य-शाली नारी हो, तो क्या तुम किसी अभागे, संतप्त व्यक्ति का इस भाँति अपमान करोगी? माना, तुम्हारे अमित वैभव के राज्य में कोई भी व्यक्ति पेट की ज्वाला से अपने आपको ताप-दग्ध कर-करके अनुताप शमन नहीं कर सकता। माना कि तुम पवित्रता की प्रतिमा हो, और आदर्श तुम्हारी ही मुट्ठी में बंद रहकर प्रत्येक पग-चालन प्राप्त करता है, तो भी क्या यह उचित है कि किसी भ्रमित पथिक को सुमार्ग-प्रदर्शन के मोह में डालकर, तुम धक्का देकर अग्रसर करने का दुःसाहस कर सको!

मैं चला ही आया। मेरे पैर आगे पड़ते गए। मैंने फिर पीछे फिर कर उस घर की ओर क्या उस मुहल्ले तक की ओर नहीं देखा। मेरे सामने तो केवल एक बात थी, और वह बस इतनी-सी कि मुझे चला जाना है, जिस तरह भी हो सके, चला ही जाना है।

× × ×

तुम बड़े भले आदमी हो। तुम्हारा मुँह भी बड़ा खूबसूरत है। तुम पूछते हो कि प्रभा से तुम क्या संबंध रखते हो! खूब रही!! अच्छा, तुम्हीं बतलाओ, प्रभा तुम्हारी कौन होती है?

अच्छा! बड़े गर्व से तुम कह रहे हो—धर्म-पत्नी!

हाँ-हाँ तुमने अपने बड़े-से-बड़े नाते और अधिकार अस्त्र और अनुशासन, वैभव और बड़प्पन का परिचय दे डाला। बधाइयाँ! लेकिन भाई-जान, जरा मुझे समझा तो दो कि प्रभा ने जीवन के किस क्षण में यह अनुभव किया है कि तुम उसके स्वामी हो! जरा बतलाओ तो सही कि स्वामित्व की कौन सी ऐसी स्थिति है, जिसके तुम अधिकारी बन सके हो! क्या तुम उसके हृदय के साथ अपने हृदय के अणु-अणु का मिलन कर सके हो। क्या तुम्हारे प्यार और उत्सर्ग का क्षेत्र कभी इतना विस्तृत हुआ कि वह क्षण-भर की भी एक सुखनिंदिया ले सकती? अपनी आत्मा के एकान्त क्रोड़ में निमेष-मात्र को भी क्या तुम उसे सुला सके? क्या तुमने कभी यह समझने की चेष्टा की कि शरीर का रक्त-मांस, उसका हृत्पिंड, उसके प्राण का प्रत्येक स्पंदन विश्व-प्रकृति की किस प्रेरणा से अनुप्राणित होता है?

तुम चुप हो; क्योंकि तुम्हारे पास इन बातों के उत्तर में केवल एक बेहूदी बेशरमी है। हाँ, यह भी मैं मानता हूँ कि दाँत निकालकर हँस देने में भी तुम अपना मनुष्यत्व प्रतिपादित करना सीख गये हो! किन्तु मैं कहता हूँ—मैं तुम्हें सावधान कर देना चाहता हूँ तुम सम्हल जाओ,

सावधान हो जाओ। तुमने उस मनुष्यत्व का अपमान किया है, जो इस अखिल सृष्टि के कल-निनाद का एकमात्र प्रेरक अक्षय तत्व है। तुमने प्रभा पर संदेह किया, उसके कमनीय, कलेवर पर बेतों की वर्षा की, उसका लहू बहाया, और उस किरण को भी अपमानित किया, जो दुग्ध की भाँति उज्ज्वल, ओस-कण की भाँति निरी द्रष्टव्य और तीर्थ-रेणु की भाँति वंदनीय है!......पशु कहीं के!

एँ! क्या कहा!! मैं लंपट हूँ, मेरी बातों में वासना की बू आती है।

उत्तर में मैं तुम्हें कोई सफाई नहीं देना चाहता। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे आगे अपनी कोई तसवीर खड़ी करूँ। मैं तुम्हारी प्रशंसा का भिखारी नहीं हूँ। किन्तु नहीं, मैं तुमसे कुछ छिपाना भी नहीं चाहता। मैं नहीं चाहता कि अपने अभिमान के मद में तुम्हारे सामने मैं अपनी स्थिति तक न साफ करूँ। किसी को भ्रम में रखना अच्छा नहीं होता। अक्सर लोगों में गलतफहमी हो जाती है। कुछ लोग इस प्रकृति के होते हैं कि गलती नहीं करते, मगर चूँकि आरोप उन्हीं पर लद जाता है, इसलिये झुँझला उठते हैं—जिद में आकर अपनी सफाई तक देना उन्हें स्वीकार नहीं होता। मैं मानता हूँ, मुझमें यह बुरी आदत रही है, लेकिन अब मैं ऐसी गलती न करूँगा।

मैं मानता हूँ, सचमुच प्रभा मेरी कोई नहीं है। लेकिन खेद के साथ मुझे यह भी बतला देना पड़ेगा कि अगर मैं चाहता, तो प्रभा मेरी हो सकती थी। बस, यही एक भावोद्वेलन मेरे हृदय में आज बीस वर्ष से रहा है। मैं आदर्श प्रेमी नहीं हूँ, क्योंकि घुल-घुलकर मृत्यु के घाट उतरने-जैसा चरम त्याग मेरे लिये संभव नहीं हो सका। किन्तु अपने उस स्वरूप का परिचय मैं कैसे दूँ कि किसी एक हृदय का नहीं, तृण तक का उत्सर्ग मुझे कभी-कभी कितना प्रभावित कर डालता है। बहुत दिनों की बात है, प्रभा के एक उपहार ने मेरी जीवन-सरिता की प्रशान्त जल-धारा को अतिशय क्षुब्ध कर डाला था। वह उसका आत्मसमर्पण था।

अपनी यथार्थ स्थिति का परिचय उसने अपने एक पत्र में दिया था। मेरे पास वह पत्र अब तक सुरक्षित है। पर मैं उसे तुम्हें दिखला नहीं सकता। उसके साथ एक पवित्रात्मा का इतिहास है। तुम्हारे हाथ में देकर मैं उसका अपमान नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ, अवसर आने पर तुम उसकी बातें लेकर प्रभा का उपहास कर सकते हो। आह! तुम क्या जान सकोगे कि प्रभा किस कोटि की रानी है? तुम तो स्त्री को खरीदा हुआ जानवर समझते हो!

उस समय तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था। उसकी बातचीत भी नहीं चली थी। उसी समय मैंने प्रभा को देखा था। एक-आध बार उससे मेरी कुछ बातचीत भी हुई थी। इसके बाद ही मेरे माता-पिता के पास इसी संबंध का एक संदेश आया था। पिताजी सहमत थे, किन्तु अम्मा ने मुँह बिचकाकर कह डाला था—मेरा सुरेश इस तरह मुफ्त में ठगाया नहीं जा सकता। व्यवहार का काम तो व्यवहार ही से चलता है। रुपए की जगह, सभी अवसरों पर, कोरी आत्मीयता काम नहीं देती।

मैं चाहता, तो अम्मा की बात का तीव्र विरोध कर सकता था। किन्तु मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया। इसका कारण है। बात यह है कि मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक माता-पिता की, अपने बच्चों के लिये, कुछ न कुछ विशेष गौरव-पूर्ण साध होती है, क्योंकि वे उनके लिये अपने जीवन की प्यारी-से-प्यारी इच्छाओं का उत्सर्ग करते हैं। और, मैं जानता था, अम्मा ने मेरी पढ़ाई में अपने अनेक आभूषण तक बेच डाले हैं, इसीलिये मैं चुप रह गया।

मैं सिर्फ चुप ही नहीं रह गया, वरन् मैंने अपनी अभिलाषा के संकेतों तक को स्पष्ट नहीं होने दिया।

उसके बाद फिर यह आज का दिन है। कितने वर्ष बीत गए, कुछ पता भी है तुम्हें! लेकिन, कभी किसी से भी, मैंने अपनी अभिलाषा को प्रकट नहीं किया। मैं सदा से ही बड़ा अभिमानी रहा हूँ। मैंने सोच

लिया था कि चाहे जो कुछ हो, अपने इस विषाद को कभी खुलने न दूँगा। मैं समझता था, यह निरी अपनी ही बात है, अपने ही वश की है। इसे भूल जाने में क्या लगेगा? किन्तु जीवन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, बराबर मैं यही अनुभव करता गया कि यह तो जीवन-मरण की एक समस्या है। इसे भुलाया कैसे जा सकता है।

इसीलिए मैं तुम्हारे यहाँ गया था। मेरा उद्देश्य बुरा न था। मैं तो सफाई चाहता था। मैं चाहता था कि प्रभा से मेरी जिन वस्तुओं (उपहारों) का आदान-प्रदान हुआ है, उन सबको हम लोग एक दूसरे से लौटा कर सदा के लिये निश्चिंत और निर्लेप हो जायँ। किन्तु ऐसा कहाँ हो सका। उसने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा, ऐसा कैसे हो सकता है।

अच्छा, मैं आपसे ही पूछना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों नहीं हो सकता? देखो, चुप मत रहो, मेरी बातों का उत्तर देते चलो,······मैं तो बिलकुल तैयार होकर गया था। मेरे पास उसकी सभी चीजें सुरक्षित रूप से मौजूद थीं। मैं उन सबको उसके पास लेकर गया था। मैंने उसे उन सबको एक-एक करके दिखलाना शुरू किया, तो उसकी आँखें भर आईं। मैंने देखा, उसे अत्यधिक व्यथा पहुँचाना मेरा उद्देश्य नहीं हो सकता, तब मैंने उन चीजों को दिखलाना बन्द कर दिया। लेकिन इससे क्या? मुझे उन सब उपहारों को किसी तरह अपने पास नहीं रखना है। उन्हें मैं अपने पास रख ही कैसे सकता हूँ, मैं भला हूँ या बुरा। दो में से एक ही तो हूँ। क्योंकि यह तो एक प्रकार की कायरता हुई। फिर जिन वस्तुओं ने मेरे जीवन को एकदम से नष्टप्राय कर डाला, उन्हें अपने पास रखकर मैं करूँगा क्या? जब प्रभा से मेरे जीवन का कोई संबंध नहीं है, तब उसकी भेंट की हुई वस्तुओं का मेरे साथ क्यों सम्बन्ध हो? न तो इसमें मैं कोई बैर-विरोध देखता हूँ, न कोई मनोमालिन्य। यह तो एक सिद्धान्त

की, एक दृढ़ता की, एक वीरता और पुरुषार्थ की बात है। इसके लिये तो हममें गर्व होना चाहिए।

अभिलाषाओं के मोह को मनुष्य अपने गले की फाँसी बनाकर क्यों रक्खे ? इनसे यदि जीवन को स्फुरण या उल्लास नहीं मिलता, तो उनके संपर्क से मुक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है। बतलाओ, जरा बतलाओ प्रकाश बाबू, मैं इसमें क्या गलत कहता हूँ ?

ओह ! तुम अब भी चुप हो। इतनी बातें—खरी और खोटी, भली और बुरी, शांत और उत्तेजक—मैंने तुमसे कह डालीं, किंतु तुमने मेरी किसी बात का उत्तर नहीं दिया ? बतलाओ, आखिर इस मौन-धारण का क्या अभिप्राय है ?

तुम मेरी ओर बड़े ध्यान से देख रहे हो ! क्या तुम मेरे शरीर को देखते हो ? क्या आप समझते हैं कि मैं अत्यधिक दुर्बल हो गया हूँ, इसलिये तुम्हारी दया का पात्र हूँ ? हँ-हँ, मैं इतना क्षुद्र नहीं हूँ मिस्टर प्रकाशचन्द ! मैं मनुष्य हूँ, लौहस्तंभ हूँ, पाषाण-शिला हूँ। मैं इस विच्छेद को पी गया हूँ। मैंने इतना सहन किया है, तो आगे भी जो कुछ आएगा, सहन करूँगा। किन्तु मैं मरूँगा नहीं, प्रकाश भाई, मैं मृत्युंजय हूँ।

मेरे शरीर में क्या तुम किसी प्रकार की उष्णता का अनुभव कर रहे हो ? किन्तु वह तो अत्यधिक स्वस्थता की द्योतक है। प्रत्येक डाक्टर से मैंने यही कहा है कि यह कोई टेंपरेचर नहीं है। और, एक बड़ी विचित्र बात यह है मिस्टर प्रकाश कि डाक्टर लोग बड़े हैरान हैं। वे कहते हैं—इतना प्रोलांग करने का स्पष्ट अर्थ है जीवन। इस मर्ज का कोई मरीज, मैं नहीं जानता, इतना प्रोलाङ्ग कभी कर सका है !

इसका कारण क्या है, जानते हो ? इसका कारण एकमात्र मेरा आत्म-विश्वास है। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे थोड़ा-बहुत समझ सको यह टेंपरेचर भी इस समय तुम मुझमें न पाते, यदि इस वक्त यहाँ तसरीफ न लाते, और उसका ऐसा संवाद न देते।

लेकिन ओह ! तुमने प्रभा को बेतों से पीटा है, तुमने उस पर प्रहार किये हैं, उसे कुलटा कहा है, और साथ-ही-साथ तुमने किरण को गाली देकर उसका अपमान किया है, और तारीफ की बात यह है कि तुम खुद मेरे पास यह सब समाचार लेकर आए हो। तुम मुझे समझते क्या हो प्रकाश, आह ! मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ कि तुम्हारे ये प्रहार प्रभा पर नहीं, सुरेश, केवल सुरेश पर हुए हैं।

अच्छा, तो जरा ठहर जाओ। मैं थोड़ा स्वस्थ हो लूँ। कुछ दिनों से मैं थोड़ी पीने लगा हूँ। हाँ-हाँ भाई इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

हाँ, अब कहो, क्या कहते हो ? जरा एस० पी० साहब से बात कर लूँ; उनसे कह दूँ कि इस समय मैं उनके यहाँ आ नहीं सकता, जरा-सा ठहर जाओ। मुझे सिर्फ उस कमरे में जाना पड़ेगा। बस सिर्फ तीन मिनट में। हाँ बस।

× × ×

आप आ गए। ओह ! मुझे बड़ी खुशी हुई। हाँ साहब मुझे आप से सिर्फ दो बातें कहनी हैं। उसके बाद आप जो प्रश्न करेंगे, मैं उनका उत्तर दे सकूँगा। थोड़ी देर मैं होश में रह सकता हूँ।

बात यह है कि ये मेरे एक मित्र हैं। मित्र तो हैं, किन्तु इन्होंने मेरे साथ एक शत्रुता का काम किया है। इनसे मेरी बड़ी घनिष्ठता रही है। किन्तु मैं नहीं जानता था कि आह ! आह ! जहर ! जहर !! बड़ी शून्यता आ रही है। इसी ने हाँ, इसी ने शरबत में मिलाकर……।

× × ×

क्या कहा ? उसने……उसने मेरे सब उपहारों को नष्ट कर डाला था, गंगा में बहा दिया था। ओह ! तुम यह क्या कह रहे हो !…आह ! तब एस० पी० साहब, मेरी बात आप गलत समझें। मैं गलती पर था। असल में मैंने ही जहर पी लिया है।……हाँ-हाँ, मैंने ही खुद अपने आप खूब समझ-सोचकर !

पागल

उन दिनों की बात कह रहा हूँ, जब मोहन दीनानाथ बाबू के यहाँ आया ही था।

सर्दी के दिन थे। भयङ्कर जाड़ा पड़ रहा था। पाला इतना अधिक पड़ा था कि सहस्रों बीघे खेती साफ हो गई थी। श्लेष्मा बुरी तरह से घरों में फैला हुआ था। सैकड़ों बच्चे निमोनिया के मुँह में समा गये थे। मोहन उन्हीं दिनों अपने गाँव से भागकर शहर आया था। तब वह निरा छोकरा था, सिर्फ पाँच-सात वर्ष का। फटा, मैला, कीचड़ के रंग का, रुई-भरा एक मात्र कोट, चिथड़ों के रूप में उसके बदन पर इधर-उधर लटक रहा था। सर पर बाल बढ़े हुए थे। जिनसे तेल और मिट्टी की गहरी पुट के कारण दबी हुई दुर्गन्ध आ रही थी। प्रोफेसर दीनानाथ उन दिनों कालेज में नियुक्त ही हुए थे। यूनीवर्सिटी की परिधि लाँघ कर उन्होंने अभी हाल ही में संसार-प्रवेश किया था।

सायंकाल का समय था। कुछ बूँदा बूँदी भी हो रही थी। दीनानाथ बाबू कुछ कम्बल खरीदने के लिए चाँदनी-चौक आये थे। कम्बल खरीद चुकने पर ज्योंही उन्होंने दूकान छोड़ी, त्योंही देखा—अरे! बूँदा-बूँदी होने लगी! झपट कर घर की ओर लौट पड़े। चावड़ी-बाजार की एक गली में उनका घर था। वे अभी दूकान से हटकर चावड़ी-बाजार की ओर घूमे ही थे कि मोहन सामने आ गया और गिड़गिड़ा कर बोला—'बाबू एक पैसा! बड़ी भूख लगी है। (और वह पेट पर हाथ फेर कर उसके खाली रूप को दिखाने लगा) आज ही गाँव से आया हूँ।'

दीनानाथ बाबू ने यह तो देखा कि एक छोकरा सामने आकर उनकी

तीव्र गति के कारण फिर बगल की ओर पड़ गया, पर, वह यह न सुन सके कि उसने आगे कहा क्या। इधर मोहन ने भी अभी कुछ ही दिनों से माँगना प्रारम्भ किया था। उसने सोचा, ऐसे-ऐसे बाबू लोगों को भी वह छोड़ देगा, तो फिर उसे और कौन पैसा देगा? वह दीनानाथ बाबू के पीछे हो लिया। वह जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, वैसे-ही-वैसे वह भी उनके पीछे लगा हुआ चलता गया। उसे इस बात का पूरा भरोसा हो गया था कि उसकी मेहनत खाली न जायगी।

इतने में बाबू साहब का मकान आ गया। बाहरी बैठक में पहुँच कर एक कुर्सी पर वह बैठ गये और झट से नौकर को बुलाने लगे—"अरे धनियाँ, जरा इधर तो आना।'

धनियाँ तुरन्त दीनानाथ बाबू के सामने आ खड़ा हुआ और बाबू साहब ने दोनों कम्बल उसे देकर कहा—'अम्मा को दे आओ।'

(२)

'अरे! तू यहाँ तक पीछा किये हुए चला ही आया!' छोकरे की ओर देखकर दीनानाथ बाबू ने उसके इस दुस्साहस पर जरा-सा मुस्करा दिया। उनकी इस मुस्कराहट में विस्मय था, करुणा थी और उस छोकरे के पीछे पड़ जाने के इस प्रयास पर कुछ कुतूहल भी था।

मोहन हाथ छोड़ कर, दीनानाथ बाबू के चमकते हुए जूतों के नीचे का फर्श छूते हुए उसे अपने मस्तक पर लगा कर कहने लगा—'बाबू साहब, बड़ा भूखा हूँ। आज ही अपने गाँव से आया हूँ। एक पैसा!—बस एक पैसा।'

आश्चर्य, दुःख और दया से प्रेरित होकर प्रोफेसर साहब ने पूछा—'आज ही गाँव से आया है! अच्छा तो वहाँ से क्यों आया?'

ये छोकरे गाँवों से भागकर शहरों को क्यों चले आते हैं, क्या बाबू दीनानाथ यह जानते नहीं? जब पेट में आग लगती है, और उसको बुझाने लायक तरल पदार्थ उसमें नहीं पहुँचता, तब वह चंचलता जो

मनुष्य जीवन की प्राण है, विद्रोह कर बैठती है। गाँव उजड़ रहे हैं और शहर बस रहे हैं, क्यों? क्योंकि गाँवों के गरीब किसान और उनके बच्चे पनप नहीं पाते। शहर में आकर उनकी आँखें खुल जाती हैं। मजदूरी करके वे किसी तरह पेट-भर भोजन तो पा जाते हैं। इसके सिवा अवकाश के समय में इधर-उधर घूमते-फिरते हैं—तमाशा देखते हैं।

हाँ, साहब, तो दीनानाथ बाबू के प्रश्न से मोहन को कुछ संतोष हुआ। उसके मन में आया, बस अब काम बन गया। उत्साहित होकर उसने कहा—'जी, माँ-बाप नहीं हैं। मैंने उन्हें देखा भी नहीं। गाँव में जहाँ-तहाँ माँग-मूँग कर पेट भर लेता था, कभी-कभी वहीं कुछ काम मिल जाता, तो उसे कर देता था। पर, इधर उससे पेट नहीं भरता। इसीलिए, यहाँ चला आया हूँ।'

'तो तूने अभी तक कुछ खाया नहीं है?'

'जी, खाया क्यों नहीं! सुबह के वक्त पाँच पैसे पा गया था। चार पैसे की पाव भर जलेबी ली, एक पैसे की लैया। फिर इधर-उधर तमाशा देखता रहा। अब भूख लग आई, तो फिर माँगने लगा।'

'तेरी जाति क्या है?'

'जी, मैं जाति का जाट हूँ, जाट।'

'खाना तो मैं तुझे अभी खिलाए देता हूँ। पर······हाँ, यह तो बता कि गाँव से आया कब था?'

'जी, मैं कल आया था?'

'सोया कहाँ रात को?'

'जी, एक 'धरमशाला' के आगे पड़ा रहा, एक साधु की धूनी की गरम आँच के पास।'

'साधु की धूनी के पास! और जो वह न होता तो!'

'तब फिर देखा जाता। भगवान जैसे रक्खेंगे, वैसे ही तो रहना पड़ेगा।'

दीनानाथ मोहन के मुख की ओर ध्यान से देखने लगा।

(३)

अब मोहन दीनानाथ बाबू के पास रहने लगा है।

गर्मियों के दिन हैं। दीनानाथ बाबू अपने मकान पर, कानपुर जिले के एक गाँव में, आये हुए हैं। साथ में उनका परिवार भी है।

बागों में आम और जामुन के पेड़ लदे पड़े हैं। बड़े-बड़े कलमी आमों के बोझ से लदी हुई डालियाँ जमीन की ओर इतनी झुक गई हैं कि खड़े ही-खड़े, पके या गदराने जैसे भी चाहो, आम तोड़ लो।

दीनानाथ बाबू के पिता बड़े शौकीन आदमी थे। उन्होंने फलों के पेड़ों, फूलों और तरकारियों के लिए अलग-अलग बाग लगवा रखे थे। उनका प्रबन्ध जैसा इन बागों की रखवाली का तब था, वैसा ही अब भी चला आता है। ये बाग उनके मकान से बिलकुल लगे हुए हैं।

दीनानाथ बाबू की लड़की राधा इन बागों में घूमने आई है। वह दस वर्ष की है। गाँव की कन्या पाठशाला में वह पढ़ती है। सायंकाल वह इन बागों की सैर करने को प्रायः नित्य आती है। वैसे तो मोहन सदा काम में लगा रहता है। काम न भी हो, तो भी घर पर उसका उपस्थित रहना तो आवश्यक ही है। फिर भी, जब कभी उसे समय मिलता है, वह भी इन बागों में घूमने चला आता है। संयोग से आज मोहन भी चला आया है। और इन दोनों के साथ एक मजदूर और भी आया है। मोहन और राधा जो आम पसन्द करेंगे, मजदूर उन्हीं को तोड़-तोड़ कर डलिया में डालता जायगा। ऐसा ही तय कर रखा गया है।

मोहन अवस्था में राधा से दो वर्ष बड़ा है। इसलिए वह उसे नाम लेकर पुकारता है। जब वह आया था, तब राधा उससे बोलने में सकुचाती

थी। धीरे-धीरे जब उसकी शरम खुली, तो वह मोहन से 'भैया' कहने लगी। भाई-बहन का यह नाता तब से बराबर चल रहा है।

आम के एक पेड़ की डालियाँ बिल्कुल झुकी हुई हैं। इस पेड़ का नाम दोनों ने सोच-समझ कर नाटू रखा है। उसका नाटा कद है, नाम भी उसका नाटू ही ठीक भी है। हाँ, तो इसी नाटू की एक डाली पर राधा उछल कर चढ़ गई है। मोहन भी पास के एक दूसरे पेड़ के निकट खड़ा हुआ उसके पके, पीले और लाली लिये हुए आमों की बहार देख रहा है।

एक पके आम को राधा तोड़कर खाने लगी। वह बड़ा मीठा निकला। उसकी इच्छा हुई कि थोड़ा-सा मोहन को भी चखाया जाय। बोली—मोहन भैया, अरे ओ मोहन भैया! अरे कहाँ चले गये?

मोहन जब से इस परिवार में आया है, तब से वह एक दम से बदल गया है। कोयल, मैना, उल्लू, बिल्ली, सियार, गदहा तथा कुत्ता आदि पशु-पक्षियों की बोली-बोल कर वह इस परिवार के लोगों को सदा हँसाया करता है। वह बड़ा खिलखिला है। कभी-कभी काम करते-करते बीच में उपयुक्त बोलियाँ बोल कर राधा की माँ को, जिन्हें वह खुद भी "अम्मा" कहता है, यकायक चौंका दिया करता है।

हाँ तो मोहन वहीं से बोल उठा—'एँ-एँ।'

भेड़ की बोली वह इसी प्रकार बोलता है। फिर वह दौड़ पड़ा और चट से राधा के निकट जा पहुँचा।

राधा एक आम को चाकू से तराश कर खा रही थी। चटखारे लेते हुए बोली—सच कहती हूँ, भैया, बड़ा मीठा है। बस, ऐसा जान पड़ता है, जैसे मिश्री की चाशनी मिला दी गई हो। यह लो, जरा चखकर देखो।

उसी आम में से एक बड़ी दलदार फाँक उसने मोहन को दे दी।

आम की उस फाँक को लेकर मोहन भी एक दूसरी डाल पर बैठ गया

और खाने लगा। और भी दो आम तोड़े गये और दोनों ने एक दूसरे को अपने-अपने आमों का भाग देकर खाया। आम खा चुकने पर फिर उसी तरह के आम तुड़वा कर मजदूर के हवाले किए गए।

अब जामुन खाने की बारी आई।

यह बाग जाड़ों, गर्मी और बरसात तीनों फसलों में अपने अतिथियों का स्वागत किया करता है। गर्मी और बरसात में इसमें आम और जामुन रहते हैं और जाड़ों में अमरूद। लगाया भी वह इसी कायदे के साथ गया है। एक कतार आम की, फिर एक कतार जामुन की, और फिर अमरूद की। हाँ, तो जरा हटने की देर थी कि राधा और मोहन, दोनों जामुन के निकट आ पहुँचे।

मोहन तो ठहरा नटखट लड़का। झट से चढ़ गया जामुन के पेड़ पर। कुछ पके जामुन तोड़-तोड़कर वह एक थैले में भरने लगा।

राधा से रहा न गया। वह बोली—'देखो भैया, डाल पकड़ कर उसे झकझोर तो दो एक बार। पके जामुन झट गिर पड़ेंगे। इस तरह मैं भी नीचे गिरे हुए जामुन खा सकूँगी, तुम तो ऊपर उड़ा ही रहे हो।'

वैसे मोहन खुद भी ऐसा सोच सकता था। पर उसने ऐसा करना इसलिए ठीक नहीं समझा कि पके हुए जामुन जब जमीन पर गिरते हैं, तो वे बुरी तरह घायल हो जाते हैं और उनमें मिट्टी भर जाती है।

मोहन ने कहा—'जरा ठहर जाओ, राधा, मैं अभी थैला भर कर उसे नीचे पहुँचाए देता हूँ।'

राधा बोली—'नहीं मैं तब तक ठहर नहीं सकती। तुम जो कहते हो, वह है तो बिल्कुल ठीक बात, लेकिन मुझमें इतना धैर्य हो तब न! वैसे चाहे हो भी जाता, पर तुम खुद भी तो कभी-कभी एक आध जामुन खा लेते हो। ना भाई, मुझसे सहन न होगा।'

मोहन ने सच पूछो तो एक ही जामुन खाया था। उसने देखा, राधा नहीं चाहती, तो उसने खुद भी खाना बन्द कर दिया। बोला—डाली

हिला देने से कच्चे और अधपके जामुनों के गुच्छे भी नीचे आ जायँगे, इसीलिये इन्हें गिराता नहीं हूँ। और जो कहती हो कि मैं खुद खाता हूँ, सो मैं भी तब तक न खाऊँगा जब तक थैले को भर कर नीचे न आ जाऊँगा।'

राधा ने पहले तो कह दिया। पर जब उसने मोहन का उत्तर पाया, तब वह अपनी बात पर आप ही सकुचा गई—अरे! मैंने यह कैसी बात कह दी। मोहन भैया इतने ऊँचे पर चढ़ कर जामुन तोड़ रहे हैं। अगर वे कुछ खा ही लेते हैं, तो क्या बुरा करते हैं।'

'यह लो, थैला भी भर गया। अब मैं उतरा आता हूँ।'

मोहन नीचे उतर आया, थैला राधा की ओर करके बोला—'चलो, वहाँ बेंच पड़ी है, वहीं बैठ कर खायँगे।'

बेंच पर बैठकर मोहन जब राधा को जामुन देने लगा तो उसने कहा—'मैं नहीं खाऊँगी। इच्छा नहीं है।'

मोहन बोला—'एँ! खाओगी क्यों नहीं? तो, इतने ऊँचे पेड़ पर चढ़ कर मैंने इन्हें तोड़ा किसलिए है? न खाओगी तो मैं इन्हें कुएँ में फेंक दूँगा। खाना दूर रहा, मैं इन्हें छुऊँगा भी नहीं। अच्छा बोलो, मेरी किस बात से तुम इस तरह रूठ गई हो?'

राधा चुप थी। वह कुछ उत्तर देना चाहती थी। वह पूछना चाहती थी कि मैंने तुमसे कहा कि तुम अकेले-अकेले खा रहे हो, सो तुमने इसका कुछ बुरा तो नहीं माना। एक सीधी-सी बात थी—कितनी भोली और कैसी कोमल! पर वह इसे न कह सकी।

तब मोहन ने जोर से कहा—'बोलो, खाओगी या मैं इन्हें कुएँ में फेंक दूँ?'

राधा ने आँखों में आँसू भर लिये। मुरझाए हुए मुख से उसने कहा—'तो तुम मेरे कहने का बुरा मानते हो?'

मोहन बोला—'मैंने कुछ भी बुरा नहीं माना। बुरा मानने की इसमें

बात ही क्या थी ? तुम भी राधा इतनी पगली हो कि जरा-जरा सी बातों में अपने मन से कुछ-का-कुछ समझ कर इतनी उदास हो उठती हो ! यह लो, खाओ जामुन !'

बेंच पर बैठ कर दोनों जामुन खाने लगे।

(४)

गर्मी के दिन हैं। राधा को चेचक ने बुरी तरह से व्यथित-विपन्न कर रखा है। उसका सारा बदन एक-एक अंगुल बड़ी फुंसियों से बुरी तरह जल-सा गया है। मोहन रात-दिन राधा की परिचर्या में रहता है। वह उसकी फुंसियों का मवाद धोता है, उसे नहलाता है, उसकी धोती धोता है। इसके सिवा दिन-रात वह उस पर पंखा झला करता है। दीनानाथ बाबू और उसकी धर्मपत्नी उसकी इस सेवा से बहुत प्रसन्न हैं। सेवा-कार्य में मोहन की अन्तरात्मा कितनी उज्ज्वल है, कितनी उच्च, यह जानने का उन्हें यह एक अच्छा अवसर मिला है।

एक दिन राधा की माँ ने कह भी डाला। बोली—'मोहन, मैं तो राधा की माँ हूँ, उसे मैंने तो अपनी कोख से पैदा किया है, लेकिन इतनी सेवा तो मुझसे भी नहीं हो सकती ! तू इतना निकट का सहोदर भाई न होते हुए भी जी-जान से उसकी सेवा में ऐसा तत्पर रहता है। मैं दिन रात यही सोचती रहती हूँ कि तू उसका भाई होकर ही जैसे हम लोगों को आ मिला है।'

मोहन बोला—'माँ, सहोदर होने से ही कोई भाई थोड़े ही हो जाता है ! भाई और बहिन का पवित्र नाता तो हमारी आत्मा के भीतर से उमड़ कर पैदा होता है।'

राधा की माँ सोचने लगी—इस समय यह कैसी ऊँची बात इसने कह दी। सचमुच यह बड़ा समझदार लड़का है।

उस दिन रात को तीसरे पहर तक बराबर बड़ी उमस रही। एक तो

अत्यधिक गर्मी के कारण यों ही बेचैनी कम न थी, दूसरे फुंसियों में जलन होने के कारण राधा और भी विकल हो रही थी। राधा की माँ और दीनानाथ बाबू को नींद आ गई थी। रात भी अधिक बीत गई थी। मोहन अब भी राधा के ऊपर पंखा झल रहा था। राधा बोली—'अब तुम भी सोओ भैया, रात ज्यादा हुई। तुम्हारे हाथों में दर्द होने लगा होगा।'

मोहन बोला—'तुम बेचैनी से कराहती हो और मैं सोऊँ! यह कैसे हो सकता है?'

राधा की आँखों में आँसू छलछला आये।

राधा अब वैसी अबोध न थी। उसने तेरह वर्ष की होकर चौदहवें में पदार्पण किया था। सरल नव-यौवन की स्वाभाविक हिलोरें उसके विमल मानस में भी कभी-कभी तरंगित हो उठती थीं। इधर मोहन की इस सेवा ने उसके हृदय में घोंसला बना लिया था।

राधा बोली—'तुम्हें क्या हो गया है, मोहन भैया?'

'कुछ तो नहीं' कहकर वह कुछ मर्माहत-सा हो उठा।

एक ठंडी, हाहाकारमय निःश्वास लेकर राधा बोली—अब तो यही इच्छा होती है, मोहन भैया, कि बस मृत्यु की गोद में समा जाऊँ।

राधा अभी तो यौवन के नन्दन-वन में प्रवेश ही कर पायी थी! जीवन की अमृतमयी, प्राणमयी, प्रलय पवन, रजनीगंधा का तरंगित समीरण और वासंती लता का आलोड़न-उत्पीड़न अभी उसकी अनुभूति के वातायन से झाँक ही कहाँ पाया था। फिर भी मानवी आत्मा के अन्तरतम में समुस्थित होने वाली भावनाएँ अपने मृदुल-स्पर्श से कभी-कभी उसे, एक छोर से दूसरे छोर तक झकझोर ही जाती थीं। वह सोचने लगती—'अब! अब इस श्रीहीन शरीर का होगा क्या?'

मोहन ने उत्तर दिया—'इतनी निराश क्यों होती हो राधा?'

राधा आँसू टपकाते हुए बोली—'तुम ! तुम क्या जानो कि मैं क्यों ऐसा चाहती हूँ !'

मोहन कहने लगा—'इस स्थल पर तुम भूलती हो राधा! क्या अपने भीतर की बातें सदा कहने से ही प्रकट होती हैं !'

राधा सिसक-सिसक कर रोती रही।

(५)

राधा अब नेत्र-हीना थी।

दीनानाथ बाबू और राधा की माँ के जीवन का चरम सुख राधा में ही अंतर्हित था ! यद्यपि उनके और भी संतानें हुई थीं, पर वे जीवन न पा सकीं थीं। वे हँसती खेलती हुई, एक झाँकी-सी दिखाकर अन्तर्धान हो गई थीं। केवल राधा ही उनकी आशा की वेलि, आँखों की ज्योति, हृदय की प्रतिमा और जीवन की निधि के रूप में बच रही थी। और वह राधा भी जो कभी रूप में चन्द्रकला, कोमलता में मल्लिका, वाणी में प्रियम्वदा और सरलता में मृग-छौनी जैसी रही होगी, अब नेत्र-हीना थी।

दिन बीत रहे थे।

मोहन राधा के निकट ही बना रहता। क्योंकि जब राधा अकेली रहती, उसे बड़ा कष्ट होता। जब कोई उसके पास बैठकर उससे बातें किया करता, तब वह अपने जीवन के भविष्य की कल्पनाएँ भूली रहा करती थी ! बातचीत में उसका जी उलझा रहता था। और जब वह अकेली होने को होती, तो मोहन उसके पास पहुँच जाता। वह उसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नई-नई कविताएँ सुनाया करता। एक-एक अक्षर सीखते-सीखते अपने जीवन के इन आठ वर्षों में उसने इतना अभ्यास कर लिया था।

एक दिन राधा बहुत प्रसन्न देख पड़ी। उत्साह से उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह बोली—'मोहन, मोटे सफेद कागज की एक कापी

ले आओ और पेंसिल लेकर यहाँ बैठो तो! मैं कुछ बोलूँगी; तुम लिखते जाना।'

कापी और पेंसिल लाकर मोहन निकट बैठते हुए बोला—'हाँ राधा, ले आया। बोलो, मैं लिखता हूँ।'

राधा बोलने लगी—

'टूटे तार हृदय वीणा के,
नाद नहीं, झंकार नहीं।
प्रतिध्वनि नहीं, प्रेम प्रतिदानों,
की प्यारी मनुहार नहीं।'

राधा और भी आगे लिखाती गई। मोहन जब लिख चुका, तो इस पद्य को झूम-झूम कर गाने लगा।

राधा बोली—मोहन, तुमने यह गाना कहाँ से सीखा? इससे पहले तो कभी मैंने तुमको गाते हुए देखा-सुना नहीं।

मोहन ने उत्तर दिया—'और इससे पहले राधा को भी तो मैंने कभी कविता लिखते नहीं देखा।'

राधा के हृदय में एक गहरी चोट-सी जा लगी। वह बोली—'मोहन, तुमको हो क्या गया है?'

मोहन ने कहा—'राधा, यह प्रश्न तो अब पुराना पड़ गया है!'

राधा अवाक् होकर देर तक कुछ सोचती रही।

दूसरे दिन की बात है।

राधा बोली—'आखिर, तुम चाहते क्या हो मोहन?'

राधा की आत्मा आज सजग थी। उसके शब्दों में ओज था, वाणी में आवेग। उसके जलते हुए शब्दों से लपटें-सी निकल रही थीं। मोहन पहले तो चुप ही रहा। आखिर वह कहता ही क्या? राधा के इस प्रश्न ने, विशेष रूप से उसकी 'टोन' ने उसकी आत्मा को हिला दिया था।

मानवी आत्मा की दुर्बलता में प्राण नहीं होता, एक झटके-मात्र से वह काँप उठती है। सो मोहन के मनका चोर भी जी चुरा रहा था।

राधा बोली—'बोलो, अब उत्तर क्यों नहीं देते ?'

मोहन को कहना पड़ा—'मैं जो कुछ चाहता हूँ, वह क्या तुमसे छिप सका है ?'

राधा बोली—'तो यही ठीक है न कि तुम मुझे चाहते हो ? मुझे प्यार करते हो ?

मोहन चुप रहा।

और उसका मौन ही उसकी 'हाँ' थी।

'लेकिन अगर तुम बुरा न मानो, तो एक बात कहूँ।' राधा बोली।

'कहो !' मोहन ने उत्तर दिया।

राधा—'अगर तुम मुझे चाहते हो, मेरे सच्चे-प्रेमी हो, तो अपनी आत्मा की मलिनता को अपने में से निकाल कर फेंक दो। मुझे देखो, मुझ पर दया करो, क्योंकि मैं एक दुखिया नारी हूँ। वे अन्तर्यामी बड़े समर्थ हैं, उन परम पिता की लीला विचित्र है। उन्होंने हमारे भीतर परम प्रकाश भर दिया है। मैं उसी के पीछे-पीछे चलना चाहती हूँ। तुम, मेरे भाई, मेरे प्यारे, अगर मुझे चाहते हो, तो तुम भी मेरे पीछे-पीछे क्यों नहीं चले चलते ! दुर्बलताएँ मुझमें भी हैं। मैं भी कभी-कभी मार्ग से भटक जाती हूँ; क्योंकि आखिर हूँ तो मैं अन्धी ही। पर, तुम दोनों आँखों को ज्योतिर्मय रखते हुए भी पीछे से पुकार कर क्यों नहीं कह देते कि उस मार्ग में कंटक हैं—गर्त है। उधर न चलो। परन्तु हाय ! तुम तो सन्मार्ग सुझाने के स्थान पर मेरा अँधानुकरण करते हो ! तुम तो मेरे पीछे-पीछे खुद भी पतन के गर्त में गिरना चाहते हो ! कैसे तुम प्रेमी हो ! न मुझे बचाते हो—न अपने आपको !'

मोहन को जैसे काले साँप ने काट खाया हो !

राधा कहती ही गई—'फिर, मैं तुम्हें भैया कहती आई हूँ! तुमने अनेक बार बहन के नाते अपने भाल पर मुझसे रोरी लगवाई है और मैंने तुम्हारे राखी बाँधी है! छिः तुम्हारा यह पतन! तुमने बहन के प्यार की पवित्रता को अपने हृदय की दुर्बलता के हाथ बेच दिया! तुमने यह क्या किया मोहन?'

मोहन राधा के पैरों पर गिर कर रोता रहा।

(६)

कई वर्ष बीत गये।

अब न दीनानाथ बाबू हैं न उनकी धर्मपत्नी। बाल-ब्रह्मचारिणी, वृद्धा और अँधी राधा रह गई है और उसका बूढ़ा भाई मोहन। दीनानाथ बाबू मरने के पहले अपनी सम्पत्ति के भावी उपयोग के लिए एक ट्रस्ट बना गये थे। 'वसीयत नामे' के अनुसार वे दोनों प्राणी निर्वाह-मात्र के लिए पचास रुपये मासिक पाते हैं। बाकी आय अँधों के विद्यालय के काम आती है। राधा स्वयं भी इस विद्यालय के छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाया करती है—

मोहन अब भी कभी-कभी गाया करता है—

'टूटे तार हृदय-वीणा के, नाद नहीं, झंकार नहीं।
प्रति-ध्वनि नहीं; प्रेम प्रतिदानों, की प्यारी मनुहार नहीं॥'

कोमल स्वरों के साथ जब उसके भीतर का अवसाद आकर मिल जाता है, तभी वह श्वेत-केशी राधा पोपले मुँह से कह उठती है—देखती हूँ मोहन, तुम्हारा पागलपन अभी तक नहीं गया है। इस पर मोहन का गान रुक जाता है, उसके चेहरे की झुर्रियों पर लाली की एक क्षणिक रेखा चमक कर मिट जाती है और वह फीकी हँसी हँसकर कहता—राधा ठीक कहती है।

बराबास

पायर लागरक्विस्त

श्रद्धा और संदेह, विश्वास और दुविधा के बीच का पीड़ामय संघर्ष! यह मानव मन की एक शाश्वत समस्या रही है, सदियों पहले भी थी और आज भी है।

इसी संघर्ष को स्वीडन के विख्यात साहित्यकार पायर लागरक्विस्त ने प्रतीक रूप से इस छोटे से उपन्यास में बड़ी खूबी के साथ दिखाया है बराबास एक पेशेवर अपराधी है, समाज का शत्रु है। उसे फाँसी का दंड मिलता है, लेकिन वह छोड़ दिया जाता है और उसकी जगह जीसस क्राइस्ट को, संसार को प्रेम और दया का संदेश देनेवाले उस देवपुत्र को सूली पर टाँग दिया जाता है! बराबास अपने इस मुक्तिदाता से प्रभावित है, लेकिन उसमें विश्वास नहीं कर पाता, उसके उपदेशों और आश्वासनों में श्रद्धा लाना उसके लिए अन्त तक संभव नहीं होता। वह क्राइस्ट को समझ नहीं पाता, लेकिन उससे इन्कार भी नहीं कर पाता! वर्षों यह संघर्ष चलता है। और आखिर में बरबास क्राइस्ट के एक गुमराह समर्थक के रूप में उसके उद्देश्य को गलत ढंग से पूरा करने की कोशिश करता है। वह राज्य का और क्राइस्ट के समर्थकों का, दोनों का कोपभाजन बनता है। राज्य उसे दंड देता है और क्राइस्ट के समर्थक अन्त तक उसे अपनाने से इन्कार करते हैं, हालाँकि उनके साथ ही वह भी सूली पर चढ़ाया जाता है!

इस अनोखे उपन्यास की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि इसे सन १९५१ में साहित्य का नोबुल पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। मूल्य २॥) रु०

विषाद मठ

रांगेय राघव

इतिहास की लोमहर्षक घटनाएँ कभी-कभी अच्छे आगे आने वाले चित्र का संकेत करती हैं और विषाद-मठ उसी का प्रतिरूप है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने यात्रा करके जो अपनी आँखों देखा, वही यहाँ प्रस्तुत किया है।

बंगाल का अकाल एक क्षणिक घटना नहीं थी, उसका इतिहास में अविस्मरणीय स्थान है। ऐसे ही एक न भूलने योग्य अकाल का वर्णन बंकिम की लेखनी ने आनन्दमठ के रूप में किया था, जिसको आज भी सब लोग चाव से पढ़ते हैं। ऐसा ही यह ग्रन्थ है विषादमठ, जो दूसरे अकाल का वर्णन करता है, जिसको आलोचकों ने अपने युग का दर्पण कहा है।

मनुष्य की वेदना की यह दोनों कथाएँ एक दूसरे की पूरक हैं, एक में अँगरेजों के राज्य जमने का चित्र है, जिसमें लेखक की समवेदना कराहती है, पर स्पष्ट नहीं होती, दूसरा अँगरेजों के राज्य के उखड़ने का चित्र है, जिसमें लेखक की मानवता पुकारती है और गर्जन करने लगती है।

जीवन का जो वास्तविक चित्रण यहाँ मिलता है, उसे पढ़कर सत्य के आश्चर्यजनक रूप पर जहाँ विस्मय होता है, वहाँ वेदना, करुणा, और रोमांच से पाठक अभिभूत हो उठता है।

मूल्य ३॥) रु०

किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी की नवीनतम रचनाएँ, एक लघु उपन्यास और चार कहानियाँ, यहाँ संग्रहीत हैं।

'निर्यातन' एक बड़ा ही सुन्दर और गठा हुआ छोटा सा उपन्यास है। इस के लघु कलेवर का विस्तार काफी बड़ा है, और अपने सिद्धहस्त लेखक की कलम की करामात का सबूत है। इसके सभी पात्र इतने सजीव हैं कि बिल्कुल जाने-पहचाने से लगते हैं।

उदार और क्षमाशील रमाबाबू; उनकी युवती विधवा पत्नी तारिणी, जो अपने उज्ज्वल चरित्र के गौरव से सबका मन मोह लेती है। नवयौवना मल्लिका, एक ताजे, सुकुमार फूल की मल्लिका, जिसके सौन्दर्य सी सुवास पूरे उपन्यास में बिखरी है। और मल्लिका के प्रेम के लिए हर तरह के बलिदान का स्वागत करने को उत्सुक राधाकान्त, जो अन्त में अपने भाई के हाथ में उसका हाथ देकर चला जाता है—मुक्ति के पथ पर, मानवता की सेवा के पुण्य पथ पर। और उमा, कलहप्रिय, शंकालु; दिल की छोटी और जीभ की तेज उमा के चरित्र की यथार्थता इस उपन्यास की कई विशेषताओं में से एक है।

जीवन और जगत के अनुभव में पगे लेखक के छोटे-छोटे सूक्त वाक्य इस उपन्यास के पथ को स्तम्भों की भाँति आलोकित करते हैं।

इस संग्रह की चारों कहानियाँ अनूठी और स्थायी मूल्य की हैं। प्रत्येक के पीछे एक उद्देश्य है, जो उनके महत्व को दूना और प्रभाव को चिरस्थायी बना देता है।

मूल्य २)

किताब महल प्रकाशन